उठो! जागो!! अपने अन्दर निहित
देवत्व को व्यक्त करो।
वर्ष ३१ अंक २
विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर (म.प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून
* १९९३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी सत्यरूपानन्द
सह-सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द
व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/- वर्ष ३१ अंक २ एक प्रति ४/५०

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण- विवेकानन्द- भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३१] अप्रेल-मई-जून ★ १९९३ ★ [अंक २

धन की तुच्छता

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुंजते।
ते दद्युर्ददतोऽथवा किमपरं क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धित्कान्पुरुषाधमान्धनकणान् वांछन्ति तेभ्योऽपि ये।।

इस पृथ्वी की सारी सम्पदा जलरेखा से घिरे हुए मिट्टी के एक ढेले के समान है। सैकड़ों युद्धों के द्वारा राजा लोग इस पर अधिकार जमाकर भोग किया करते हैं। ऐसे तुच्छ दरिद्र राजा यदि कुछ दान करें या करते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य! परन्तु उनके पास से भी जो लोग छोटी-मोटी धनराशि की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है।

भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'-५९

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो

२९ जनवरी, १८९४

प्रिय दीवानजी साहब,

आपका पिछला पत्र मुझे कुछ दिन पहले मिला। आप मेरी दुःखिनी माँ एवं भाइयों से मिलने गये थे, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु आपने मेरे हृदय के एकमात्र कोमल स्थान को स्पर्श किया है। दीवान जी, आप यह जान लें कि मैं कोई पाषाणहृदय पशु नहीं हूँ। यदि सारे संसार में मैं किसी से प्रेम करता हूँ, तो वह है मेरी माँ। फिर भी मेरा विश्वास था और अब भी है कि यदि मैं संसार-त्याग न करता, तो जिस महान आदर्श का, मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस प्रचार करने आए थे, उसका प्राकट्य न होता; और वे नवयुवक कहाँ होते, जो आजकल के भौतिकवाद और भोग-विलास की उत्ताल तरंगों को परकोटे की तरह रोक रहे हैं? उन्होंने भारत का बहुत कल्याण किया है, विशेषतः बंगाल का, और अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। प्रभु की कृपा से ये लोग ऐसा काम करेंगे, जिसके लिए सारा संसार युग युग तक इन्हें आशीर्वाद देगा। अतः एक ओर तो मेरे सामने था भारत एवं सारे संसार के धर्मों के विषय में मेरी परिकल्पना और उन लाखों नर-नारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते जा रहे हैं और कोई सहायता करने वाला नहीं है—यही नहीं, उनकी ओर कोई ध्यान तक नहीं देता—और दूसरी ओर था अपने निकटस्थ तथा प्रियजनों को दुःखी करना। मैंने पहला पक्ष चुना। 'शेष

सब प्रभु करेंगे। यदि मुझे किसी बात का विश्वास है, तो वह यह कि प्रभु मेरे साथ है। जब तक मैं निष्कपट हूँ, तब तक कोई मुझे रोक नहीं सकता, क्योंकि प्रभु ही मेरे सहायक हैं। भारत में अनेकानेक व्यकित मुझे समझ न सके, और वे बेचारे समझते भी कैसे, क्योंकि भोजनादि नित्य क्रिया के परे कभी उनका ध्यान गया ही नहीं। केवल आप जैसे कोई कोई उदार हृदय वाले मनुष्य मेरा मान करते हैं, यह मैं जानता हूँ। प्रभु आपका भला करें। परन्तु मान हो या न हो, मैंने तो इन नवयुवकों को संगठित करने के लिए ही जन्म लिया है। यही नहीं प्रत्येक नगर में सैकड़ों और मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार है और मैं चाहता हूँ कि इन्हें अप्रतिहत गतिशील तरगों की भाँति भारत में सब ओर भेजूँ, ताकि ये दीन-हीनों एवं पददलितों के द्वार तक सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा पहुँचा दें। और इसे मैं करूँगा, या मरूँगा।

हमारे देश के लोगों में न विचार है और न गुणग्राहकता। इसके विपरीत एक सहस्र वर्ष के दासत्व के स्वाभाविक पणिामस्वरूप उनमें भीषण ईर्ष्या तथा सन्देहशीलता है, जिसके कारण वे प्रत्येक नये विचार का विरोध करते हैं। फिर भी प्रभु महान हैं।

आरती तथा अन्य विषय, जिनका आपने उल्लेख किया है—भारत के सभी मठों में सर्वत्र प्रचलित हैं, और वेदों में गुरु की पूजा पहला कर्त्तव्य कहा गया है। इसमें गुण और दोष, दोनों ही पक्ष हैं, परन्तु आपको स्मरण रखना चाहिए कि हमारा यह एक अनुपम संघ है और हममें से किसी को भी अधिकार नहीं है कि वह अपने विश्वास दूसरों पर बलपूर्वक थोपे। हममें से बहुत से लोग किसी प्रकार की

मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते, परन्तु उन्हें दूसरों की मूर्ति पूजा का खण्डन करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि ऐसा करने से हमारे धर्ममत का पहला ही सिद्धान्त टूटता है। फिर ईश्वर भी मनुष्य के रूप में, और मनुष्य के द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रकाश का स्फुरण सब स्थानों में होता है—अँधेरे से अँधेरे कोने में भी—परन्तु वह दीपक के रूप में ही मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसी तरह यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु हम एक विराट मनुष्य के रूप में ही उसकी कल्पना कर सकते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी जितनी भावनाएँ हैं—जैसे कि दयालु, पालक, सहायक, रक्षक—ये सब मानवीय भावनाएँ हैं और साथ ही किसी मानवविशेष में ही इनका विकास होना है, चाहे उसे गुरु मानिए, चाहे ईश्वरीय-दूत या अवतार। मनुष्य अपनी प्रकृति से बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही जैसे कि आप अपने शरीर में से उछलकर बाहर नहीं आ सकते। यदि कुछ लोग अपने गुरु की उपासना करें, तो इसमें क्या हानि है, विशेषत: जब कि वह गुरु ऐतिहासिक पैगम्बरों तक सभी की सम्मिलित पवित्रता से भी सौगुना अधिक पवित्र हो? यदि ईसा मसीह, कृष्ण और बुद्ध की पूजा करने में कोई हानि नहीं है, तो इस मनुष्य को पूजने में क्या हानि हो सकती है, जिसके विचार या कर्म को अपवित्रता कभी छू तक नहीं गयी, जिसकी अन्तर्दृष्टिप्रसूत बुद्धि से अन्य पैगम्बरों, जिनमें से सभी एकांगी रहे हैं, की बुद्धि में आकाश पाताल का अंतर है? दर्शन, विज्ञान या अन्य किसी भी विद्या की सहायता न लेकर इसी महापुरुष के जगत् में इतिहास में सर्वप्रथम सत्य का सभी धर्मों में निहित होने की ही नहीं, वरन् सभी धर्मों के सत्य होने की इस भावना का जगत् में प्रचार किया एवं

यही सत्य आज संसार में सर्वत्र प्रतिष्ठा लाभ कर रहा है।

परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है; और संघ के भाइयों में से आपसे किसी ने यह नहीं कहा कि सभी उसके गुरु की पूजा करें। नहीं, नहीं, नहीं। परन्तु इसके साथ ही हममें से किसी को भी अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को पूजा करने से रोके। क्यों? क्योंकि ऐसा करने से इस अद्वितीय संगठन का—जो संसार में पहले कभी देखने में नहीं आया—पतन हो जायगा। दस मत और दस विचार के दस मनुष्य परस्पर खूब घुल-मिलकर रह रहे हैं। थोड़ा धीरज धरिए, दीवान जी, प्रभु दयालु और महान् है, अभी आप बहुत कुछ देखेंगे।

हम केवल सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं रखते, वरन् उन्हें स्वीकार भी करते हैं और प्रभु की सहायता से सारे संसार में इसका प्रचार करने का प्रयत्न भी मैं कर रहा हूँ।

प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग.

३. जो सत् बनने या सत् कर्म करने के लिए यत्नवान हों, उनकी सहायता करना।

क्या कारण है कि हिन्दू राष्ट्र अपनी अद्भुत बुद्धि एवं अन्यान्य गुणों के रहते हुए भी टुकड़े-टुकड़े हो गया? मेरा उत्तर होगा—ईर्ष्या। कभी भी कोई जाति इस मन्दभाग्य हिन्दू जाति की तरह इतनी नीचता के साथ एक दूसरे से ईर्ष्या करनेवाली, एक दूसरे के सुयश से ऐसी डाह करने वाली नहीं हुई, और यदि आप कभी पश्चिमी देशों में आएँ

तो पश्चिमी राष्ट्रों में इसके अभाव का अनुभव सबसे पहले करेंगे।

भारत में तीन मनुष्य एक साथ मिलकर पाँच मिनट के लिए भी कोई काम नहीं कर सकते। हर एक मनुष्य अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है और अन्त में संगठन की दुरवस्था हो जाती है। भगवान्! भगवान्! हम कब ईर्ष्या करना छोड़ेंगे? ऐसे देश में, विशेषतः बंगाल में ऐसे व्यक्तियों के एक संगठन का निर्माण करना जो परस्पर मतभेद रखते हुए भी अटल प्रेमसूत्र से बँधे हुए हों, क्या एक आश्चर्यजनक बात नहीं है? यह संघ बढ़ता रहेगा।

अनन्त शक्ति व अभ्युदय के साथ-साथ उदारता की यह भावना अवश्य ही सारे देश में फैल जाएगी तथा गुलामों की हमारी इस जाति को उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त इस उत्कट अज्ञता, द्वेष, जातिभेद, प्राचीन अन्धविश्वास व ईर्ष्या के बावजूद यह हमारे देश के रोम रोम में समा जाएगी तथा उसमें चेतना का संचार करेगी।

सर्वव्यापी निस्तरंग इस महासागर के जल में आप ही जैसे दो-चार सच्चरित्र व्यक्ति हैं, जो कठिन शिलाखण्ड की भाँति अविचलित खड़े हैं। प्रभु आपका सदा-सर्वदा कल्याण करें।

सदैव आपका शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

क्रोध

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। —सं.)

हममें कौन नहीं जानता कि क्रोध करना बुरा है, फिर भी हम क्रोध के चंगुल से बच नहीं पाते। क्रोध अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो इच्छा की पूर्ति में बाधा आने से उत्पन्न होती है। यह वृत्ति केवल अन्तःकरण तक अपने को सीमित नहीं रखती, वरन् इसकी प्रतिक्रिया शरीर पर भी होती है। आँखें लाल हो जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, शरीर थर-थर काँपने लगता है, चेहरा तन जाता है और मनुष्य खूँखार दिखने लगता है। क्रोध धीरे-धीरे विवेक पर पर्दा डाल देता है, जिससे बुद्धि उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाती। गीता के अनुसार क्रोध मनुष्य के विनाश का कारण होता है। वहाँ बताया गया है कि क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, जिससे भले-बुरे का विचार ढँक जाता है। इसे 'स्मृतिविभ्रम' कहा गया है। क्रोध के आवेश में हम भूल जाते हैं कि ये हमारे आचार्य हैं, पूज्य है, माननीय हैं। इस प्रकार के 'स्मृतिविभ्रम' से 'बुद्धिनाश' होता है। मनुष्य नहीं समझ पाता कि उसके लिए क्या करणीय है और क्या अकरणीय। फलस्वरूप वह नष्ट हो जाता है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी कि एक महिला ने एक नेवला पाल रखा था, जो बड़ा ही स्वामिभक्त था। एक

दिन अपने छोटे शिशु के पास नेवले को छोड़ वह पानी लेने कुएँ पर गयी। जब लौटी तो उसने देखा कि नेवला दरवाजे पर खड़ा हो उसकी ओर मुँह उठाकर अभ्यर्थना कर रहा है। नेवले का मुँह रक्त से सना देख महिला ने सोचा कि नेवला उसके छोटे बच्चे को मारकर खा गया है। उसने आव देखा न ताव, क्रोध के आवेश में पानी का घड़ा नेवले के सिर पर दे मारा। नेवले का तत्क्षण ही काम तमाम हो गया। महिला भागकर अपने बच्चे को देखने कमरे में घुसी तो क्या देखती है कि उसका बच्चा जमीन पर बिछौने में पड़ा खेल रहा है और उसी के पास एक विषधर सर्प के तीन-चार टुकड़े रक्त में लथपथ हो पड़े हैं। महिला समझ गयी कि नेवले ने ही उसके बच्चे की जान बचायी है। उसे अपनी धीरजहीनता और अविवेक पर बड़ी ही ग्लानि हुई, पर अब क्या हो सकता था!

यह क्रोध का परिणाम है। क्रोधावेश पैदा होने पर बुद्धि कुछ समझने से इन्कार कर देती है। हमारी समूची चेतना तब क्रोध के रंग से रँग जाती है।

कथा आती है कि जब कवि रामचरित लिख रहे थे, तो उन्होंने वर्णन किया कि राम-रावण युद्ध के समय लंका में एक विशेष प्रकार के सफेद फूल खिले हुए थे। जब हनुमानजी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने आपत्ति की और कहा कि फूल सफेद नहीं, लाल थे। पर कवि ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब बात श्री राम तक गयी और कवि तथा हनुमान दोनों ने श्री राम से इसका फैसला चाहा। राम बोले—"हनुमान! कवि ने जो लिखा है वही सत्य है। फूल सफेद ही थे। पर तुम तब क्रोधावेश में थे, इसीलिए फूल तुम्हें लाल दिख रहे थे!"

क्रोध से बचने का एक सार्थक उपाय यह है कि क्रोध आने पर उस स्थान का तुरन्त त्याग कर दे। दूसरा उपाय यह है कि उस समय अपने मन में ऐसे व्यक्ति का चित्र लाकर खड़ा कर ले, जिसे वह सबसे अधिक प्यार करता है। तीसरा उपाय ऐसा है कि जब भी क्रोध की वृत्ति जागे तो मन पर यह संस्कार डालने का अभ्यास करे कि 'अभी नहीं, कुछ देर बाद क्रोध की घटना पर विचार करूँगा।' इससे क्रोध का उफान धीरे-धीरे दूर हो जायगा और हम घटना पर उसके सही परिप्रेक्ष्य में विचार कर सकेंगे। हाँ, कभी-कभी क्रोध इतना अचानक और तेज होता है कि बवंडर के समान हमारे मन को छा लेता है। हमें उसका भान तब होता है, जब हम क्रोध कर चुके होते हैं और उसकी प्रतिक्रियाएँ हो चुकी होती हैं। पर हमें निराश नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त तीन उपायों का धैर्यपूर्वक अभ्यास हमें धीरे-धीरे क्रोध पर नियंत्रण की शक्ति देगा।

पर यह स्मरण रहे कि क्रोध नहीं करने का तात्पर्य कायरता नहीं है। जहाँ किसी को सुधारने के लिए क्रोध करना आवश्यक हो वहाँ उसका प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। हमें केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि हम क्रोध की वृत्ति को अपने वश में रखें, हम स्वयं उस वृत्ति के वश में न हो जायँ। हम काटने से तो परहेज करें, फुफकारने से नहीं।

माँ काली के प्रति

राइकबालसिंह 'राकेश'
गरुडनीड, भदई, मुजफ्फरपुर

महाशक्ति जय विश्वव्यापिनी
जग की कारणभूता दुर्गे,
दुर्गदारिणी।

क्या न तुम्हारे ही गतिपथ पर,
पक्ष, मास, ऋतु, दिन, संवत्सर,
नाच रहे सब एक-एक कर,
रणकरालिनी।

टिका तुम्हारे शक्ति केन्द्र पर,
महत और लघु नये वेश धर,
तुममें आदि-अन्त का उत्तर,
विश्वस्वामिनी।

दिव्य तेज से विद्युन्मण्डित,
जला पूर्वकृत मल को संचित,
मन पर अमृतत्व कर अंकित,
सिंहवाहिनी।

मानस रोग (१८/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम के प्रांगण में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'राचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके अट्ठारहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं।-स.)

समाज की सेवा करना बहुत ही उत्तम कार्य है। रामचरितमानस में भगवान राम ने हनुमानजी से कह दिया—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दुना।। ४/३/७

—तुम मुझे लक्ष्मण से दुगने प्रिय हो। यद्यपि हनुमानजी ने उसे उस अर्थ में नहीं लिया कि मैं लक्ष्मणजी से दुगना श्रेष्ठ हूँ, परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करके देखें तो हनुमानजी का स्थान श्रेष्ठ है। कैसे? रामायण में दोनों अनन्य भक्त हैं, हनुमानजी भी और लक्ष्मणजी भी। पर दोनों की अनन्यता में भेद है। हमारे भक्ति ग्रन्थों में अनन्यता की दो प्रकार से व्याख्या की गई है — एक अभेदमूलक अनन्यता और दूसरी भेदमूलक अनन्यता। भेदमूलक अनन्यता का प्रतीक चातक है। चातक के विषय में आपने सुना होगा कि वह स्वाति नक्षत्र का जल छोड़कर गंगा, यमुना, सरस्वती या समुद्र किसी का जल नहीं पीता। तो एक प्रकार के अनन्यता का प्रतीक चातक है। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे अनन्य होते हैं, जो भगवान के किसी एक रूप में या किसी एक अवतार में चातक के समान अनन्य भाव से लगे रहते हैं। उस रूप को

छोड़कर उन्हें अन्य कोई रूप प्रिय नहीं है। यह चातक की अनन्यता है। लक्ष्मणजी इसी के प्रतीक हैं। विनयपत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं—

चातक चतुर राम स्याम धन के। (३७)

—लक्ष्मणजी रामरूपी श्यामघन के चतुर चातक हैं। उनमें चातक वृत्ति है। श्री राम को छोड़कर किसी पर भी उनकी आस्था नहीं है। पर रामायण में अनन्यता का एक दूसरा रूप भी बताया गया है और वह है अद्वैतमूलक अनन्यता। इस अनन्यता का उपदेश भगवान राम ने हनुमानजी को दिया। हनुमानजी ने कहा— महाराज मैं तो जानता ही नहीं कि भजन कैसे करना चाहिए। सुनकर भगवान राम बोले— अगर तुम मेरा भजन करना चाहते हो तो तुम्हें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ४/३

— मैं सेवक हूँ और सारा ब्रह्माण्ड ही मेरे प्रभु का रूप है, ऐसा समझ कर अपने ही प्रभु को सर्वत्र देखना, यह मेरी अनन्य भक्ति है। हनुमानजी को यह उपदेश भगवान राम लक्ष्मणजी के सामने देते हैं। लक्ष्मणजी अनन्य भाव से भगवान की सेवा कर रहे हैं, पर उनके सन्दर्भ में अनन्यता की परिभाषा दूसरी है। उनकी चातक वृत्ति है। लक्ष्मणजी भगवान राम में भगवान राम को देखकर तो सेवा करने के लिए तैयार हैं, लेकिन भगवान राम जब कहते हैं—

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥ २/७१/२

रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू।।२/७१/५

— भरत और शत्रुघ्न घर पर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मन में मेरा दुःख है, अतः तुम यहीं रहो और सबको सन्तुष्ट करो अन्यथा बड़ी भूल होगी, इस पर लक्ष्मणजी स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देते हैं। कहते हैं— आप किसकी सेवा करने के लिए कह रहे हैं? किस माता-पिता की? मैं तो—

गुरु पितु मातु न जानउ काहू।
कहहुँ सुभाउ नाथ पतिआहू।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।२/७२/४,६

— एक आपको छोड़कर और किसी गुरु या माता-पिता को मैं नहीं जानता। यह है चातक का उत्तर। और हनुमानजी? हनुमानजी और लक्ष्मणजी में अन्तर यही है कि लक्ष्मणजी भगवान में ही भगवान की सेवा कर सकते हैं, अन्यत्र नहीं। और हनुमानजी को भगवान ने बताया कि तुम्हारी अनन्यता यह है कि सारे संसार में मुझे देखकर सबकी सेवा करना।

एक व्यक्ति के रूप में भगवान की सेवा करना उतना कठिन नहीं है, जितना सारे संसार में भेदों के होते हुए भी सब रूपों में अपने भगवान को देख लेना और सबकी सेवा करना। यह इतना कठिन कार्य है कि इसका निर्वाह केवल दो पात्रों ने किया, या तो हनुमानजी ने या श्री भरत ने। यह अभेद अनन्यता इन्हीं दोनों में है। इनकी दृष्टि में श्री राम में ही श्री राम नहीं है, वे तो जिससे मिलते हैं, जिसको देखते हैं, उसी को प्रणाम करते हैं। सर्वत्र उन्हें श्री राम का ही

दर्शन होता है। और इस दर्शन से क्या होता है? श्री भरत तो न ममता को स्वीकार करते हैं न अहता को। भगवान राम कहते हैं — भरत, मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जैसा सुन्दर राज्य तुम चला सकते हो, वैसा कोई दूसरा नहीं चला पाएगा। भगवान की इस बात को श्री भरत अस्वीकार नहीं करते। गुरु वशिष्ठ और अयोध्यावासी तो यह समझ रहे थे कि श्री भरत भगवान राम से लौटने का हठ करेंगे। पर श्री भरत ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने भगवान से कहा —"बिनु अधार मन तोषु न साँति।" (२/३१६/२) बिना आधार के मन में न सन्तोष है और न शान्ति। मुझे कुछ आधार दीजिए। निर्गुण और सगुण उपासना का यह एक मुख्य भेद है। निर्गुण उपासना में आधार की अपेक्षा नहीं है। निरालम्ब भाव से व्यक्ति को ऊपर उठने की प्रेरणा दी जाती है। यह अपने स्थान पर, जो इसके अधिकारी हैं, उनके लिए बड़े महत्व की बात है। निरालम्ब भाव से भी लोग उठ सकते हैं। हनुमानजी जैसे आकाश मार्ग से समुद्र को पार कर रहे हैं; हनुमानजी तो हर तरह से चल सकते हैं, जल पर भी, नभ पर भी, थल पर भी। इसका अभिप्राय यह है कि हनुमानजी तो ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग– सभी मार्गों में चलने के अभ्यस्त हैं। सर्वत्र उनकी पूर्णता है। निर्गुण —निराकार में कोई अवलम्बन नहीं है। न तो नाम है, न रूप और न गुण। व्यक्ति को बिल्कुल निरालम्ब भाव से अपने को ऊपर उठाना है। लेकिन सगुण-साकार की उपासना में मान्यता यह है कि व्यक्ति जीवन में बिना आधार के नहीं रह सकता। मान लीजिए कोई अधिक आधार लेने लगे तो यह आलोचना की जा सकती है कि बहुत आधार ले रहा है, लेकिन जो सब आधार छोड़ देता है, उसको भी तो आखिर

पृथ्वी के आधार पर ही हो खड़ा होना पड़ता है। अगर कोई दूसरे के कन्धे का सहारा न ले, लाठी का सहारा न ले तो कम से कम पृथ्वी का सहारा तो लेना ही पड़ता है। कोई आधार तो चाहिए ही। वैसे श्री भरत में सभी भावों की परिपूर्णता है। समस्त लोगों को साथ लेकर चित्रकूट जाने का तात्पर्य भी यही है। जो घोड़े पर बैठकर गये वे योगी थे और जो हाथी पर बैठ कर गये वे ज्ञानी। इसे आप भौतिक अर्थों में न लें। इसका अभिप्राय यह है कि घोड़े पर बैठकर जानेवाला व्यक्ति वह है जो घोड़े की चंचलता पर नियंत्रण स्थापित कर सके। घोड़े का लगाम कस कर पकड़े हुए हो। ईश्वर को पाने की जो साधना योगी की है, वह घोड़े पर सवार उस व्यक्ति की तरह है, जो मन के घोड़े पर बैठा हुआ है और उस पर ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि का लगाम लगाये कसकर पकड़े हुए ईश्वर की दिशा चल रहा है। हाथी विचार का प्रतीक है। विचार पर आरूढ़ होकर, विचार का आश्रय लेकर जो चल रहा है, वह ज्ञानी है। जो रथ पर बैठे हैं; रामायण में रथ को धर्म का प्रतीक माना गया है, जो व्यक्ति विविध प्रकार के सत्कर्म करने वाले हैं, वे धर्म के रथ पर बैठकर ईश्वर की ओर बढ़ रहे हैं। और जो भक्त हैं, वे पालकी पर बैठकर जा रहे हैं। ये माताएँ जो पालकी पर बैठकर गईं। लिखा हुआ है—

जाइ समीप राखि निज़ डोली।
राम मातु मृदु बानी बोली॥२/१८८/४
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी।
चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥२/१८७/८

—पालकी बड़ी आरामदेह सवारी है। ढोए कोई दूसरा

और यात्रा पूरी हो किसी अन्य की। चलना किसी को पड़ता है और यात्रा किसी और की पूरी होती है। श्री भरत ने इस यात्रा में सबके लिए — जो जिसका अधिकारी है, उसके लिए वैसा ही — प्रबन्ध कर दिया है, क्योंकि उनके पास सब हैं — वे ज्ञानी भी हैं, योगी भी हैं, भक्त भी हैं और धार्मिक भी। पर इसके साथ-साथ उनकी एक विशेषता और है। उनके पास सारी सवारियाँ होते हुए भी वे स्वयं पैदल चलते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी को श्री भरत बहुत प्रिय लगते हैं। प्रबन्ध सबके लिए कर दिया, पर स्वयं पैदल चले। किसी ने उनसे पूछ लिया कि पैदल चलने का क्या अर्थ है। उन्होंने कहा कि जिनके पास साधन की सम्पत्ति है, वे सवारी पर चलें, पर जो बेचारा निःसाधन है, जिसके पास रथ, घोड़ा, हाथी, पालकी आदि नहीं है, वह तो पैदल ही चलेगा। हम तो निःसाधन है और निःसाधन इस तरह से कि ज्ञान कोटि के साधक से लेकर जो बिलकुल साधनहीन हैं, उन सबको हमें ईश्वर के सन्मुख ले जाना है – यही श्री भरत की विशेषता है। और इसीलिए सब को लेकर चित्रकूट पहुँचने पर वे भगवान श्री राम से कहते हैं — महाराज, सब निराधार नहीं रह सकते। भगवान ने कहा — भरत, तुम तो निराधार रह ही सकते हो। उन्होंने कहा — नही महाराज, मुझे तो आधार अवश्य ही चाहिए। श्री भरत में दोनों प्रकार की निष्ठा है। वे भगवान को सर्वव्यापी देखकर निर्गुण-निराकार भी स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर आधार और प्रतीक को महत्व देकर सगुण-साकार की निष्ठा का भी पालन करते हैं।

यह प्रतीक, जिसकी हम मन्दिर में आराधना करते हैं, यह आधार है। इस आधार से हमारे अन्तर्मन को सहायता

मिलती है। इसीलिए श्री भरत कहते हैं—

बिनु आधार मन तोषु न साँति।।

— महाराज बिना आधार के मन को सन्तोष और शान्ति नहीं मिलेगी। मानस-रोगों के सन्दर्भ में सन्तोष और शान्ति का बड़ा महत्व है। श्री भरत का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के मन को कोई न कोई आश्रय चाहिए, मन की शान्ति के लिए कोई न कोई उपाय चाहिए। श्री भरत के शब्दों से प्रभु प्रसन्न हो गये और उन्होंने—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।।२/३१६/४

— भगवान श्री राम ने अपनी पादुका श्री भरत को दे दी और श्री भरत ने उसे अपने मस्तक पर रख लिया। यह पादुका क्या है? यह प्रतीक है; उपासना के लिए आश्रय है। बिना पादुका के भी श्री भरत भगवान का स्मरण कर सकते हैं। पर श्री भरत के रूप में जो महान सन्त हैं, वे सबकी भावनाओं को तृप्त करते हुए पादुका स्वीकार करते हैं और उसे अपने मस्तक पर रखते हैं। भगवान श्री राम ने उनसे थोड़ा विनोद किया। उन्होंने जान-बूझकर श्री भरत को पादुका दी। यह पादुका लाया कौन था? यह भगवान राम के साथ तो थी नहीं। वे तो जूते और पादुका छोड़कर ही आए थे। कैकेयीजी की यह आज्ञा थी। तो यह आई कहाँ से? यह श्री भरत ही लाए थे। क्यों लाये थे? भगवान राम के राज्याभिषेक के लिए वे सारी सामग्री लाए थे, उसमें छत्र, सिंहासन, चामर, तीर्थों का जल और राजा के चरणों में जो पादुका धारण कराई जाती है, वह पादुका भी श्री

भरत ही लेकर आए थे। जब भरत जी ने कहा कि महाराज, कोई सहारा दीजिए, तो प्रभु ने मुस्करा कर उन्हीं की लाई हुई पादुकाओं को उठाकर उन्हें दे दिया। मानो भगवान का संकेत यह था कि भरत, यह जो सहारा मैं तुम्हें दे रहा हूँ, यह तो तुम्हारा ही लाया हुआ है, तुम्हारा ही दिया हुआ है। सन्त आश्रय देता है या मैं आश्रय देता हूँ? यह अलग अलग मत है। सन्त ईश्वर से कहता है कोई आश्रय दीजिए और ईश्वर कहते हैं— मेरे पास जो भी है वह सब तो भक्तों का ही दिया हुआ है। अगर मैं कुछ दूँगा, अपनी खड़ाऊ दूँगा तो वह भी मेरी अपनी नहीं है, वह तो तुम्हारी ही दी हुई है। भक्त जो मुझे भेंट करता है, वही तो मैं उसे देता हूँ। भगवान श्री राघवेन्द्र ने पादुका दी और श्री भरत ने उसे मस्तक पर रख लिया। प्रभु ने भरतजी की ओर विनोद-भरी दृष्टि से देखा और बोले— भरत, मिल गया आधार? श्री भरत आनन्दविभोर थे; बोले— हाँ प्रभु; मिल गया। जिसकी ओर भी दृष्टि पड़ी, सबने कहा— मिल गया। अलग अलग प्रकार के लोग हैं। कोई नाम-जप करनेवाले कोई सेवा वृत्तिवाले, तो कोई कुल की मर्यादा का पालन करनेवाले — सबको इस प्रतीक से आश्रय मिल गया। क्या आश्रय मिल गया? —

> चरनपीठ करुनानिधान के।
> जुग जुग जामिकप्रजा प्रान के।। २/३१६/५

भगवान राम की ये दो पादुकाएँ प्रजा के प्राणों की रक्षा करने के लिए मानो दो पहरेदार हैं। और ज्ञानी के लिए? महाराज जनक तो महान ज्ञानी थे, निर्गुण-निराकारवादी थे, भगवान राम की दृष्टि उनकी ओर गई; आपको कैसा

लगा? जनकजी बोले— मुझे तो लग रहा है मानो—

संपुट भरत सनेह रतन के।

— यह पादुका नहीं, भरतजी के प्रेमरत्न को रखने के लिए स्वर्ण मंजूषा दी गई है। इसमें भरत का प्रेम छिपा हुआ है। जो राम नाम के जप करनेवाले थे, उन्हें लगा कि ये रा और म दो अक्षर हैं— आखर जुग जनु जीव जतन के।२/३१६/६ माताओं को लगा कि यह 'कुलकपाट' कुल की लज्जा बचानेवाले किवाड़ हैं —"कुलकपाट कर कुसल करम के।" और जो सेवा करनेवाले हैं, उनको लगा—"बिमल नयन सेवा सुधरम के।" ये सेवाधर्म के दो निर्मल नेत्र हैं।

सबको कुछ न कुछ मिला। पर सबसे अधिक किसने पाया? भगवान राम ने जब श्री भरत की ओर देखा और पूछा— मिल गया आधार? क्या मिला? तो श्री भरत ने तुरन्त कहा—

भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें।।२/३१६/८

— महाराज, मैं आपको लौटाने आया था और समझ गया कि आप मेरे साथ लौटे रहे हैं। इन दोनों रूपों में आप ही मेरे साथ चल रहे हैं। जो यह भेद करते हैं कि यहाँ ईश्वर आधा है, यहाँ चौथाई है— कई लोग कहा करते हैं कि मनुष्य में ईश्वर का अंश अधिक और पशुओं में कम है— उनका गणित तो अनोखा ही है। श्री भरत का गणित क्या है? ईश्वर जितना पूर्ण श्री राम में है, उतना ही उनकी पादुका में भी है। कितनी परिपूर्ण दृष्टि है उनकी। इसी दिव्य परिपूर्ण दृष्टि के कारण उन्हें उन पादुकाओं में श्री

राम और श्री सीता की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है, उन्हें यही अनुभव हो रहा है कि श्री राम परिपूर्ण रूप से उनके साथ अयोध्या लौट आये हैं। और इसीलिए जब वे सिंहासन पर उन्हें बिठाते हैं तो लोगों को आश्चर्य होता है कि जहाँ पर प्रभु को बिठाना चाहिए वहाँ पर पादुकाओं को रख दिया। सामान्य दृष्टि से सचमुच बड़ा विचित्र लगता है। अगर किसी के शयन करने के पलंग पर कोई उसका जूता रख दे तो वह तो बुरा मान सकता है कि यह कोई जूता रखने की जगह है? पर श्री भरत की भावना क्या है? श्री भरत को अगर खड़ाऊ दिखाई दे रहा हो, तब तो सिंहासन पर नहीं बिठाते, पर जब उन्हें साक्षात् भगवान राम और श्री सीता ही दिखाई दे रहे हैं तो उन्होंने सिंहासन पर पादुका नहीं, भगवान और सीता जी को बिठाया है। और उन्हें बिठाकर राजकाज चला रहे हैं। राजा कौन है? भगवान राम और श्री सीताजी। आदेश किसका चलता है?

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति।। २/३२५

— श्री भरत नित्य प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं और उनसे आज्ञा लेकर राज्य का संचालन करते हैं। पादुकाओं की पूजा करने का तात्पर्य यही है कि वे नित्य भगवान राम से पूछते हैं कि महाराज, राज्य आपका है, सिंहासन पर आप बैठे हैं, बताइए अयोध्या का राज्य कैसे चलावें? भरत जी ने, न तो कभी अपने में स्वामित्व की अहंता स्वीकार की और न ही राज्य की ममता। स्वयं उनके मन में ही कोई रोग नहीं है, पर सजग इतने हैं कि गोस्वामीजी ने लिखा—

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं।।२/३२६/२

"तप तनु कसहीं"—इस शब्द पर जरा ध्यान दीजिए। इसका अर्थ क्या है? जब आप किसी सर्राफ के यहाँ सोना लेकर जाते हैं, तो वह सोने को कसौटी पर कसकर देखता है। लेकिन वह एक बार ही तो देखता है। यह तो नहीं कि वह सोने को हर घण्टे निकालकर बार बार रगड़े। अगर कोई दिन-रात देखता ही रहे, तब तो कोई ग्राहक उसके पास नहीं आएगा। वह तो बस एक बार देखेगा और कह देगा कि सोना खरा है या खोटा। पर गोस्वामीजी एक बहुत बड़ी बात कहते हैं— इस सोने को चाहे तो आप एक ही बार कसौटी पर कसें, पर मन के सोने को जीवन भर कसौटी पर कसते रहिए। कभी मत विश्वास कीजिए कि अब मेरा मन खरा हो गया, अब कभी खोटा नहीं होगा। इसलिए श्री भरत जैसे महापुरुष भी चौदह वर्षों तक एक ही कार्य करते रहे —"भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं।" अपने शरीर को कसकर देखते रहते हैं कि कहीं भोग की वृत्ति तो नहीं आ गई, कहीं लालसा या अधिकार की वृत्ति तो नहीं आ गई? जब श्री भरत अपने चरित्र का ऐसा अद्‌भुत शोधन करते हैं, तो परिणाम क्या होता है? जब भरत जी जैसे व्यक्ति, जिनका चरित्र इंतना निष्कलुष है, प्रतिक्षण मानसिक बुराइयों की ओर से इतने सावधान हैं, तो उनकी प्रजा-सेवा का परिणाम यह होता है कि प्रजा की बुद्धि शुद्ध हो जाती है। प्रजा मात्र का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है; सब के मन के रोग दूर हो जाते हैं।

लंका में भगवान राम के सामने जो संकट आया, श्री लक्ष्मणजी बीमार पड़ गये, वहाँ पर भी सन्दर्भ वही है—

काम का आक्रमण हुआ है वैराग्य पर। मेघनाद ने लक्ष्मणजी पर आक्रमण किया। लक्ष्मणजी ने मेघनाथ को बार बार पराजित किया था। पर पराजित होने के बाद भी वह अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता। वैराग्य के द्वारा आप काम को हराने की चेष्टा कीजिए, पर काम इतनी जल्दी हार नहीं मानता। एक बार तो ऐसी स्थिति आ गई कि लक्ष्मणजी के प्रहार से मेघनाद को लगा कि वह मरा, और तब उसने अपने अन्तिम शस्त्र का प्रयोग किया। लक्ष्मणजी पर ऐसी शक्ति का प्रयोग किया, जो अमोघ थी। लक्ष्मणजी मूर्छित हो गए। भगवान श्री राम ने लक्ष्मणजी से पूछा— लक्ष्मण, मूर्छा से तुमने क्या अर्थ लिया? तुम मेघनाद के बाण से मूर्छित हो गये, इससे बढ़कर कोई आश्चर्य नहीं। लक्ष्मणजी ने भगवान के चरणों में प्रणाम करके कहा —प्रभो, इससे तो मुझे सबसे बड़ी शिक्षा मिली। क्या? मैं जीवन भर जागता रहा, कभी सोया नहीं कि कहीं कोई बुराई मुझ पर आक्रमण न कर दे। पर पता चल गया कि बिना आपकी गोद में सोए, केवल अपने जागने से बुराइयों से पूरी तरह बचना सम्भव नहीं है। इसीलिए मुझे भी एक दिन आपकी गोद में सोना पड़ा। सचमुच लक्ष्मण के समान प्रबुद्ध कौन हो सकता है?

जानिअ तबहिं जीव जब जागा।
जब सब विषय बिलास बिरागा।।२/९३/४

— जब समस्त भोग-विलासों से वैराग्य हो जाय तभी जानना चाहिए कि जीव जाग गया है। लक्ष्मणजी तो नित्य जाग्रत, सदा प्रबुद्ध वैराग्य के प्रतीक हैं। पर आज एक क्षण के लिए जैसे उन्हें झपकी सी आ गई थी। जब मेघनाद

आक्रमण करने आया, तो बन्दरों ने लक्ष्मणजी को पुकारा और तब —

लछिमन क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ।६/५२

— धनुष-बाण हाथ में लेकर क्रुद्ध हो चल पड़े। महान प्रबुद्ध साधक, जो काम का विजेता है, वैराग्यवान है, वह काम से लड़ने चल पड़ा। लेकिन क्षण भर के लिए जैसे ईश्वर विस्मृत हो गया, ईश्वर से जैसे एकत्व होना चाहिए, वह एक क्षण के लिए छूट गया। और तब वैराग्य मूर्छित हो गया। मेघनाद के बाण से लक्ष्मण मूर्छित हो गये। पर हनुमानजी ने तुरन्त उन्हें उठा लिया और प्रभु की गोद में सुला दिया। इसका अभिप्राय क्या है। गोस्वामीजी हनुमानजी के लिए वैराग्य के साथ एक शब्द और जोड़ देते हैं—

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय। (विनय पत्रिका)

हनुमानजी प्रबल वैराग्य हैं। भगवान राम की दृष्टि हनुमानजी की ओर गई। वैराग्य मूर्छित हो गया तो उसे चैतन्य करने का कार्य प्रबल वैराग्य को सौंपा गया। भगवान का संकेत यह था कि काम के प्रहार से लक्ष्मण मूर्छित है तो उसकी दवा प्रबल वैराग्य हनुमानजी ले आवें। हनुमानजी दवा लेने गये पर वे भी उस दिन दवा नहीं पहचान पाये। तो क्या किया, पूरा पर्वत ही उठाकर चल पड़े।

प्रभु ने हनुमानजी से पूछा – हनुमान, तुम्हारा अयोध्या जाने का विचार कैसे हुआ? उन्होंने कहा— महाराज, मेरा विचार थोड़े ही हुआ, वह तो आपने मुझे भेज दिया। क्यों? आपने जब देखा कि लक्ष्मण तो अस्वस्थ

है ही और उसकी दवा लेकर आनेवाला स्वयं बीमार हो रहा है। उसकी भी चिकित्सा कराने के लिए किसी न किसी के पास तो भेजना ही चाहिए। तो आपने मुझे चिकित्सा के लिए भरतजी के पास भेज दिया था। भगवान श्री राम हनुमानजी को मन की समस्या का समाधान पाने के लिए भरतजी के पास भेज देते हैं। भगवान राम और भरतजी की भूमिका तो आप जानते ही है। भगवान राम ईश्वर हैं और श्री भरत मूर्तिमान प्रेम।

भरतहि कहहिं सराहि सराही।
राम प्रेम मूरति तनु आही॥२/१८४/४

हनुमानजी जब गये तो भगवान को प्रणाम करके गये थे।

राम चरन सरसिज उर राखी।६/५६/१

भगवान राम के चरणों को हृदय में रखकर गये थे। पर जब अयोध्या से लौटने लगे तो उन्होंने कुछ बदल दिया। तब उन्होंने भगवान के चरणों में प्रणाम नहीं किया, श्री भरत के चरणों में प्रणाम किया। प्रभु ने पूछ लिया – क्या अयोध्या जाकर तुमने मन्त्र बदल लिया? इष्ट बदल लिया? मेरे चरण भूल गये? हनुमानजी ने कहा— प्रभो, मुझे आपके स्थान पर श्री भरतजी के चरणों का आश्रय इसलिए लेना पड़ा कि जब मैं आपके चरणों का आश्रय लेकर चला तो अहंकार की छाया आ गई थी और वह छाया श्री भरत की भुजाओं की कृपा से मिटी। इसलिए मैं समझता हूँ कि आपके चरणों की अपेक्षा भरतजी की भुजाएँ कहीं अधिक समर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि ईश्वर का आश्रय लेने के बाद

भी बुराई पुरी तौर से तब तक नहीं मिटेगी, जब तक हम प्रेम का आश्रय नहीं लेंगे। भगवत्प्रेम की परिपूर्णता जब जीवन में आती है तब मानसिक दोषों का निराकरण अपने आप हो जाता है। और इस प्रकार से हनुमानजी जब अयोध्या से लौटे तो—

भरत बाहु बल सील गुन प्रभु पद प्रीति अपार।
मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार॥६/६० (ख)

— श्री भरतजी के बाहुबल, शील, गुण और प्रभु के चरणों में उनकी अपार प्रीति की बारम्बार मन ही मन सराहना करते हुए श्री हनुमानजी चले जा रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण-२

स्वामी तुरीयानन्द

(रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी द्वारा अनुदित इस लेख का पूर्वार्ध पिछले अक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत है उसका उत्तरार्ध। —स)

जब स्वामीजी अमेरिका में आत्मा के अजत्व-अमरत्व का उपदेश दे रहे थे, "मैं आत्मा हूँ, मेरा न जन्म हुआ है, न मृत्यु है। मैं किससे भय करूँ?" कुछ काऊ बायस (गोपाल बालकों) ने उनकी परीक्षा करने के लिए उन्हें अपने बीच भाषण देने को आमंत्रित किया। स्वामीजी जब भाषण दे रहे थे, उसी समय उन्होंने उनके कान, सिर के पास से गोली दागना शुरू कर दिया। किन्तु स्वामीजी निर्भीक, अविचलित रहे और उनकी वक्तृता भी अबाध रूप से चलती रही। तब वे युवक आश्चर्यचकित हो उनके पास दौड़े आये और कहने लगे, "Here is our hero." स्वामीजी ने कहा था, "२९ वर्ष की उम्र तक मैंने सब कुछ कर लिया था।" और हम लोग क्या कर रहे हैं? कहते हैं, बूढा हो गया हूँ, डायब्रिटिस है, नोनसेन्स! (बहुमूत्र हो गया है,—बकवास!)वह सब एक्सक्यूज (बहानेबाजी) है। स्वामीजी अन्तिम दिन तक मेहनत कर गये हैं। मैंने देखा है, अन्तिम बीमारी के समय सीने पर तकिया रखकर हाँफ रहे हैं, लेकिन दूसरी ओर गरज भी रहे हैं। कह रहे हैं, "उठो, जागो, क्या कर रहे हो?" स्वामीजी कहते थे, "मन को गीली मिट्टी की तरह कर लेना होगा।" जैसे गीली मिट्टी का लौंदा जहाँ भी फेंक कर मारा जाता है वहीं चिपक जाता है, वैसे ही मन को जिस विषय में लगाऊँगा, उसी में लगा रहेगा।

स्वामीजी जब दूसरी बार न्यूयार्क गये थे, तब का .. ने स्वामीजी से कहा था; "यह तुम्हारा स्थान है, अब तुम इसे

ले लो।" दो बार कहने पर भी स्वामीजी ने उनकी बात नहीं सुनी। का... के पुनः वही बात कहने पर उन्होंने कहा, "तुझे दे दिया है। मेरे लिये सारी दुनिया पड़ी हुई है।" स्वामीजी का कैसा त्याग था। उन्होंने सब कुछ गुरुभाइयों को दे दिया, शिष्यों को नहीं। प्रथम ट्रस्टियों की सभा में सभी गुरुभाई थे उनका एक भी शिष्य नहीं था। एक बार मुझे उन्होंने लिखा था, "सब तुम लोगों को देकर निश्चिन्त हो गया हूँ ।" कैसे अद्‌भुत पुरुष थे वे। कहते थे, "पाश्चात्य देशों में मेरा कार्य अधिक होगा। वहीं से उसका धक्का भारत को लगेगा।" एक दिन नाराज होकर मठ से निकल गये। कहने लगे, "तुम लोग सब हीनबुद्धि के लोग हो; तुम लोगों के साथ अब क्या रहूँ। तुम लोग सब आलू, परवल, साग-पात को लेकर झगड़ा करोगे।" किन्तु आखिरकार उन्होंने क्या किया? उन्हीं हीनबुद्धि छोटे लोगों को सब दे गये। एक अन्य दिन वे बड़े नाराज हो गये। कहने लगे, "पूरा नाटक अकेले ही करना पड़ा। गाना-बजाना सब खुद ही करना पड़ा, अन्य किसी ने कुछ नहीं किया।" हमें तो बुरा-भला कहा ही, ठाकुर पर भी बड़े नाराज हो गये, उन्हें भी कोसते हुए कहने लगे, "पगले गँवार बम्हन के हाथ में पडकर जीवन बेकार गया।" फिर इसके तुरन्त बाद ही वे कहने लगे, "लेकिन जानते हो, बात यह है कि जो दिया जा चुका, वह तो अब पुनः वापस नहीं लिया जा सकता। अनन्त जीवनों में से एक पागल बम्हन के हाथों देकर अगर नष्ट ही हो गया है, तो यही सही।"

स्वामीजी के साथ अमेरिका में था। रिजली मैनर में श्री लेगेट के मकान में था। अचानक एक दिन स्वामीजी ने कहा, 'मेरे पास रुपए-पैसे अधिक नहीं हैं। अब मैं

सैनफ्रांसिसको जाऊँगा। वहाँ मुझे बन्धु-बांधवों के साथ रहना होगा। तुम अब अपना रास्ता देखो।" उस समय मैं समझ नहीं पाया कि इस तरह स्वामीजी अपना साथ छुड़वा कर मुझे अपने पैरों पर खड़े होकर कार्य करने का अवसर दे रहे थे। अतः मन-ही-मन बड़ा नाराज हुआ, परन्तु उस भाव को व्यक्त किये बिना ही मैं बोला, "अच्छी बात है।" कहते समय मैंने यह नहीं सोचा था कि कहाँ जाऊँगा। लेकिन जब स्वामीजी ने पूछा कि 'कहाँ जाओगे,' तब मॉन्ट क्लेअर की श्रीमती व्हीलर की बात स्मरण हो आई। मैंने कहा, "उनके पास जाऊँगा।" स्वामीजी ने कहा, "बहुत अच्छा। वहाँ एक केन्द्र-वेन्द्र शुरू करो।" उस समय मैं मन-ही-मन क्रोध में उबल रहा था, बोला, "केन्द्र-वेन्द्र मैं नहीं बना सकूँगा, केवल वहाँ रहूँगा।" स्वामीजी ने कहा, "उसी को केन्द्र स्थापित करना कहते हैं। तुम लोग जहाँ भी रहोगे, वहीं केन्द्र बन जाएगा।" गुरुभाइयों के प्रति असीम प्रेम से प्रेरित होकर ही वे यह सब करते थे।

स्वामीजी हम लोगों से कहते, "तुम क्या सोचते हो कि मैं केवल भाषण देता हूँ? I Know I Give them Something Solid. They know that they receive something solid," (मैं जानता हूँ कि मैं उन्हें कुछ दे रहा हूँ और उन्हें भी लगता है कि उन्होंने भी कुछ पाया है।) न्यूयार्क में एक दिन स्वामीजी एक व्याख्यान दे रहे थे। का... ने बताया था कि ध्यान के समय जिस प्रकार नीचे की कुण्डलिनी को ऊपर से कोई शक्ति खीचती है, स्वामीजी के लेक्चर को सुनते-सुनते वैसा ही कुछ हो रहा था। एक घण्टे के व्याख्यान के बाद का... ने घोषणा की कि अब प्रश्नोत्तर होंगे। स्वामीजी के व्याख्यान के बाद ही

प्राय: सभी लोग उठ गये थे। स्वामीजी थोड़े अप्रसन्न होकर बोले, "इसके बाद और प्रश्नोत्तर कैसा रे? वक्तृता सुनने से लोगों के मन में जो उच्च भाव जाग उठे हैं वे सब नष्ट हो जाएँगे।" गोविन्द! गोविन्द!! ठाकुर कैसी एक शक्ति बनाकर छोड़ गये। जगत् की विचारधारा ही पूरी तौर से पलट गई। जिसे कोई आकृष्ट न कर सके और जो सभी को आकर्षित कर ले, उसमें कितनी शक्ति होगी!

कभी कभी वे कहते, "इतनी मेहनत करने के बाद मन थोड़ा सा सधा है, लेकिन माँ केवल यही कह रही हैं, 'चला आ, चला आ'। उपयोगी कार्य कुछ हुआ नहीं।" प्रताप मजूमदार आदि भी शिकागो की धर्मसभा में गये थे, किन्तु स्वामीजी कहते "वे कुछ नहीं हैं, कुछ नहीं हैं। जो कुछ हो रहा है, वह केवल (अपने सीने पर हाथ रखकर) इसी के लिए होगा।"

एक दिन सैन्फ्रासिसको से जहाज द्वारा किसी द्वीप को जाते समय स्वामीजी के अमेरिकन साथी दौड़ने लगे। लेकिन वे रईसी चाल से ही धीरे-धीरे चलते रहे। वे लोग कहने लगे, "स्वामीजी स्टीमर छूट जायेगा।" उन्होंने उत्तर दिया, "फिर आयेगा।" इस पर वे लोग बोले, "आप भारतवासी हैं। आप लोग समय का मूल्य नहीं जानते।" स्वामीजी ने उनके मत की परवाह किये बिना ही तुरन्त उत्तर दिया, "तुम लोग काल के अधीन होकर काल में निवास करते हो; हम भारतवासी कालातीत सत्ता को पकड़कर महाकाल में निवास करते हैं, अत: काल की कोई परवाह नहीं करते।"

रंगून पहुँचने पर स्वामीजी के देहत्याग का समाचार सुनने में आया। दिल एकदम से टूट गया था। अचानक भागवत का वही श्लोक याद आ गया—

दुर्भगा बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥३।२।८

श्रीकृष्ण का तिरोभाव हो गया है, उद्धव आक्षेपपूर्वक बोलते हैं, "चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में पड़ने पर मछलियाँ उसके साथ खेलती हैं। वे समझती हैं कि चन्द्रमा भी उन्हीं में से एक है। सहसा चन्द्रमा के अन्तर्हित हो जाने पर वे समझ जाती है कि चन्द्रमा और उनमें कितना भेद है। भगवान के अन्तर्धान होने पर हमारी भी वही अवस्था हुई है।" उनकी पुस्तकों में उनके जीवन का बीसवाँ हिस्सा भी अभिव्यक्त नहीं हुआ है।

श्रीकृष्ण के देहत्याग का सन्देश विदुर को देकर उद्धव विलाप करते हुए कहने लगे, "कैसा आश्चर्य! उन्होंने यदुकुल में जन्म ग्रहण किया, किन्तु कोई भी यदुवंशी उन्हें पहचान नहीं सका। दिन-रात एक साथ ही उठना-बैठना, खाना-खेलना आदि करने के बावजूद जगच्चिन्तामणि परब्रह्म साक्षात् भगवान श्री कृष्ण को कोई समझ नही सका। केवल यदुवंशी ही क्यों, समग्र मानव समाज ही अभागा है। कोई भी उन्हें पहचान नहीं सका। उद्धव ने ठीक ही कहा था। हम स्वामीजी के साथ रहे, उनके साथ उठना-बैठना, सोना, चलना-फिरना, खाना-पीना, हँसी-मजाक, बातचीत, शास्त्रपाठ, आदि दिन-पर-दिन, वर्षों किया, किन्तु स्वामीजी को हम जरा भी पहचान नही सके। उनका स्वरूप बिल्कुल भी समझ नही सके। वे इतने बड़े महापुरुष थे, लेकिन उनका बिन्दु मात्र भी, जब तक वे जीवित थे, हम समझ नहीं सके। अब धीरे धीरे थोड़ा बहुत समझ में आ रहा है। ठाकुर कितने बड़े महापुरुष को अपने

साथ लाए थे, यह समझना हमारी बुद्धि के लिए असम्भव है। उद्धव की बातें सुनकर यही लगता है कि वे ठीक ही कह रहे हैं। स्वामीजी के साथ हमने क्या क्या नहीं किया, किन्तु हम उन्हें पकड़ नहीं सके। उस समय हम सोचते थे कि वे भी हम लोगों जैसे ही हैं, पर बहुत उच्च कोटि के; सभी विषयों में हम लोगों की अपेक्षा expert (निपुण) हैं, बस। इतना ही सोचते थे। मुझे लगता है कि एक आधार में इतने गुणों से युक्त इतने बड़े महापुरुष ने इसके पहले कभी जन्म ग्रहण नहीं किया। वे गुणों का आदर करना खूब जानते थे। जरा सा गुण देखने पर तिल का ताड़ करके बोलने का उनका स्वभाव था। लोगों को धक्का देकर ऊपर उठाने की उनमें असीम शक्ति थी। कैसे महाप्राण थे वे! सभी के लिए कैसा Feel (संवेदना का अनुभव) करते थे! सभी के लिए इतनी सहानुभूति, इतनी प्रीति और किसी मनुष्य के अन्दर न तो देखी है और न देख सकूँगा। उनकी बात सुनने पर मरा हुआ आदमी भी जी उठता था। लोगों के साथ बातें करते समय नींद आ जाती है, कोई उत्साह नहीं आता। किन्तु स्वामीजी की बातें सुनकर मरा हुआ व्यक्ति भी झटके से उछल पड़ता और कहता, "ठहरो! ठहरो! मर तो गया हूँ, यह बात भी एक बार सुनता जाऊँ।" उनकी वाणी में इतना जोर था कि भाव और भाषा हृदय के अन्तस्थल तक सीधे जा पहुँचते थे, इसमें थोड़ा सा समय नहीं लगता था। समय का विस्मरण हो जाता था। लोग स्वयं का अस्तित्व भूल जाते थे। वे सबके मन को एक उच्च भाव-भूमि पर उठा देने में समर्थ थे।

वे अत्यन्त निर्भीक थे। उन्होंने बिना कोई समझौता किये सर्वोच्च सत्य का प्रचार किया था। वे केवल देते थे,

प्रतिदान नहीं चाहते थे। दूसरे लोग एक बूँद देते हैं और बदले में एक बाल्टी चाहते हैं। Personality (व्यक्तित्व) ही मुख्य वस्तु है। कुछ इने गिने व्यक्ति ही जगत को चलाते हैं। बाकी सब भेड़ों के सदृश हैं। स्वामीजी विश्व-भ्रमण के बाद लौटकर बोले थे, "Democracy (गणतत्र) का कहीं भी अस्तित्व नहीं है— बस दो चार लोग ही काम चलाते हैं। राष्ट्र जब काम चलाने वाले लोगों को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, तभी अधोगति को प्राप्त होता है। हमारा तो धर्मप्राण देश है। यह सर्वदा Saint produce(साधु पुरुषों को उत्पन्न) करता रहा है। इतिहास में एक भी ऐसा काल बताओ, जब हमारे देश में ऐसा नहीं हुआ। एक-एक जीवन कितनी सदियों तक कितने लोगों को परिचालित करता है। देखो न, नानक, कबीर, तुलसीदास— ये लोग कितने दिनों से इस देश को चला रहे हैं।

स्वामीजी कहते हैं, "धर्म ही भारत का प्राण है। भारत का वही भाव आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। भारत में चिरकाल से धर्मवीर साधु-पुरुष जन्म ग्रहण करते रहे हैं। भारत को समस्त जगत में इस धर्म का ही विस्तार करना होगा।" स्वामीजी की बात अवश्य प्रतिफलित होगी; यह देश पुनः उन्नत होगा। स्वामीजी ने एक बार कहा था, "इस बार कुछ कहना बाकी नहीं रखा है।" वे सब कुछ कह गये हैं। अब उनके वे ही सब विचार विभिन्न प्रणालियों से कार्यरूप में परिणत हो रहे हैं। महात्मा गांधी उन्हीं की एक प्रणाली मात्र हैं। स्वामीजी का सेवाधर्म-प्रवर्तन एक अद्भुत घटना है। मेरा विश्वास है कि भारत का अभ्युत्थान अवश्यंभावी है। अपने जीवनकाल में हम उसे भले ही न देख सकें, पर यह होगा निश्चित रूप से। इस बीच ही काफी कुछ

आरम्भ हो गया है। इस अभ्युत्थान के बिना ठाकुर स्वामीजी जैसे व्यक्तियों के आगमन का कोई अर्थ ही नहीं। स्वामीजी कितनी बार स्पष्ट शब्दों में भारत का गौरवमय भविष्य चित्रित कर गये हैं। उनकी भविष्यवाणी कभी असत्य नहीं हो सकती।

* * * *

इसीलिये मैं कहता हूँ, "संशय मत करो। इसे उनका कार्य समझकर उसमें अपना पूरा तन-मन-प्राण उड़ेल दो। इसी से सब कुछ हो जायेगा। समाधि-वमाधि जो कुछ सोच रहे हो, वह सब इसी से होगा। संशय मत करो। काम में लग जाओ।" स्वामीजी ने दार्जिलिंग में मुझसे कहा था, "हरिभाई, इस बार एक नए पथ का निर्माण किये जा रहा हूँ। अब तक लोग जानते थे कि ध्यान, जप, विचार के द्वारा ही मुक्ति होती है। इस बार यहाँ के नर-नारी उनका कार्य करके जीवनमुक्त हो जाएँगे।" उनका यह कथन सत्य है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं।

सेवाश्रम में रोगियों की सेवा में साक्षात नारायण की सेवा होती है। शिव तुल्य स्वामीजी की वाणी में विश्वास करके सेवाश्रम में जो भी शिव की सेवा में रत होगा, वही मुक्त हो जायेगा। पिछले जन्मों के कर्म इससे नष्ट हो जाते हैं, चित्त शुद्ध हो जाता है। नारायण ज्ञान से सेवा ही इस युग की उपयोगी साधना है। मैं ठाकुर के कार्य से विमुख हुआ, इसीलिए मुझे इतने कष्ट भोगने पड़े।

स्वामीजी की एक बात मुझे याद आती है। स्वामीजी प्रायः कहा करते थे, "We agree to differ" अर्थात् हमारे बीच सैकड़ों मतभेद होते हुए भी, हम लोग आपसी मतभेद स्वीकार कर एक साथ कार्य करेंगे।

क्या स्वामीजी सत्त्वगुणी नहीं थे? उनके जैसा सत्त्वगुणी कौन था? मैंने तो साथ में रहकर देखा है, यह सुनी हुई बात नहीं है। रात के नौ बजे ध्यान करने बैठे और सुबह पाँच बजे उठकर स्नान करने गये। मच्छरों ने पूरी तरह देह को ढँक दिया था, मानो देह पर एक काला कम्बल ओढ़ा दिया गया हो, फिर भी होश नहीं! मानो शिव ध्यानस्थ हो बैठे हों। यह है सत्त्वगुण का लक्षण—इन्द्रिय और मन का पूर्ण संयम—पूर्ण साम्यावस्था। उन्होंने अनुभव किया था कि रजोगुण से होकर गये बिना भारत का कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए निष्काम कर्म का विधान किया। यह सत्त्व का रज है।

स्वामीजी ने एक बार हम लोगों से कहा,"तुम लोग पहले मुझे समझो, इसके बाद उनको (ठाकुर को) समझने का प्रयत्न करना।" स्वामीजी और कुछ हों न हों, पर वे एक परिपूर्ण (Perfect) मानव थे। परिपूर्ण मानव की धारणा किए बिना क्या भगवान की धारणा करना सम्भव है? इसीलिए स्वामीजी कहते थे, "पहले मुझे समझो, बाद में ठाकुर को समझोगे।"

स्वामीजी हमें छका कर चले गये। जितने दिन बीतते हैं, उतना ही लगता है कि उनके साथ और अधिक समय क्यों नहीं बिताया! उनकी बातें और अधिक क्यों नहीं सुनीं।

हिन्दू धर्म की विशेषताएँ (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

हिन्दू धर्म बुद्धिवादी है अन्धविश्वासी नहीं

हमारा धर्म नीति या धर्म के सिद्धांतों पर अन्धविश्वास करने का आग्रह नहीं करता। उल्टे वह बुद्धि और तर्क पर विशेष बल देता है। वह कहता है विचार और तर्क द्वारा सत्य के सिद्धांतों का परीक्षण करो, उनकी मीमांसा करो और यदि वे तुम्हें सत्य प्रतीत हों तो ही उन्हें स्वीकार करो। इन सिद्धांतों को स्वीकार कर साधना में डूब जाओ तथा प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा उसे अपना बना लो। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धिस्तु कुतो बलम्।

"जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल है, निर्बुद्धि के पास बल कहाँ?" भगवान शंकराचार्य ने अपने एक ज्ञानप्रधान ग्रन्थ का नाम ही 'विवेकचूड़ामणि' रखा है। इस ग्रन्थ में आत्मानुभूति के मार्ग बतलाये गये हैं। धर्मोपलब्धि के लिये मनुष्य में क्या योग्यताएँ होनी चाहिए, इन सबका इस ग्रन्थ में सविस्तार वर्णन किया गया है। उसमें प्रथम स्थान विवेक और बुद्धि को दिया गया है।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः
अधिकार्यात्मविद्या मुक्तलक्षण लक्षितः॥ (१६)

— "जो बुद्धिमान हो, विद्वान हो और तर्क-वितर्क में कुशल हो, ऐसे लक्षणों वाला पुरुष ही आत्मविद्या अधिकारी होता है।"

किसी धर्मग्रन्थ में कोई बात लिखी हो अथवा किसी विद्वान महापुरुष ने वह बात कही हो, इसलिए उस पर

विश्वास कर लेना चाहिए, हिन्दू धर्म ऐसा नहीं मानता। उसकी धारणा है कि प्रत्येक सिद्धांत जिसका हम आचरण करना चाहते हैं, उस पर हमें बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहिए। तर्क की कसौटी पर उसे कस लेना चाहिए और इस प्रकार जब तर्क तथा बुद्धि दोनों ही से वह सिद्धांत हमें निर्दोष प्रतीत हो, तब उसे स्वीकार कर उसके अनुसार अपने जीवन का गठन करना चाहिए।

विवेकशील और बुद्धिवादी होने के कारण भी हिन्दू धर्माचार्यों तथा दार्शनिकों ने हिन्दू धर्मशास्त्रों पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिखीं। इतना ही नहीं किसी भी आचार्य को अपना मत प्रतिपादित करने के लिये यह अनिवार्य है, कि वे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखें और उसके आधार पर अपने मत को तर्कसगत प्रमाणित करें। आचार्य शंकर ने इन पर भाष्य लिखकर अपने युग में अद्वैत मत का प्रतिपादन और प्रचार किया। रामानुज आए। उन्होंने शंकराचार्य के मत से असहमति प्रगट की और अपना मत प्रचारित करने के लिए उन्होंने भी भाष्य लिखे तथा विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। हमारे युग में लोकमान्य तिलक ने आचार्य शकर के गीता भाष्य मे असहमति व्यक्त की और गीतारहस्य ग्रन्थ लिखकर गीता में 'ज्ञानभक्तियुक्त कर्मयोग' का प्रतिपादन किया। ये सभी महापुरुष हिन्दुओं के लिए पूज्य, महान एव अनुकरणीय है। हिन्दुओं ने नगी तलवार और जलती मशाल के बल पर कभी भी अपने धर्म का, अपने सिद्धातों का प्रचार नही किया। वे सदैव तर्क और विचार द्वारा तथा सर्वोपरि अपने जीवन के शुद्ध आचरण द्वारा अपने धर्म का प्रचार करते रहे। आचार्य शकर ने शास्त्रार्थ द्वारा ही अपने मत का

प्रतिपादन तथा अन्य मतों का खण्डन किया, भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था कि किसी बात पर इसलिए विश्वास न कर लो कि गौतम ने ऐसा कहा है, किन्तु स्वयं उस बात का अनुभव करो, तब उस पर विश्वास करो। इस प्रकार हिन्दू धर्म विवेक और विचार की दृढ़ चट्टानों पर खड़ा है। यही कारण है कि यह अन्धविश्वासी न होकर विचारयुक्त श्रद्धावान है।

हिन्दू धर्म विकासवादी है, रूढ़िवादी नहीं

विश्व के अधिकांश धर्म अपनी अपरिवर्तनीय उपासना प्रणाली, स्थिर धार्मिक मतवाद, विचित्र पौराणिकता तथा तर्क के स्थान पर विश्वासजन्य दर्शन के कारण कालक्रम में रूढ़िवादी होकर रह गये। उनके विकास की समस्त दिशाएँ अवरुद्ध हो गई और इस कारण उनके अनुयाइयों में भी धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता तथा अंधविश्वास का प्रभाव स्थायी हो गया। किन्तु हिन्दू धर्म इस के विपरीत एक प्रगतिशील एवं विकासात्मक धर्म है। इस धर्म में कोई ऐसी उपासना प्रणाली नहीं है, जिसमें संशोधन न किया जा सके। कोई ऐसे धार्मिक मतवाद नहीं जिन पर तर्क न किया जा सके अथवा जिसका नवीन अर्थ प्रतिपादित न किया जा सके। डॉ. राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म की विकासशीलता के विषय में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द हिन्दू विउ ऑफ लाइफ' में लिखा है—

"हिन्दू धर्म गतिशील है, स्थावर नहीं। यह क्रिया है, फल नहीं। यह बढती हुई परम्परा है, कोई निर्धारित तत्त्व नहीं। इसका अतीत इतिहास हमें विश्वास दिलाता है कि विचार या व्यवहार के किसी क्षेत्र में भविष्य में होनेवाली

किसी भी आकस्मिक घटना के अनुकूल यह अपने आपको ढाल सकेगा।"

हिन्दू धर्म की इस उदार तथा प्रगतिशील वृत्ति का कारण है सत्यसन्धान के प्रति उसकी दृढ आस्था। हिन्दू धर्म यह मानता है कि सत्य, जिसकी उपलब्धि धर्म का लक्ष्य है— शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। उसका कभी अभाव नहीं होता तथा असत् का अस्तित्व नहीं होता। गीता कहती है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (२/१६)

— "असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है, इन दोनों को ही तत्वदर्शी पुरुषों द्वारा देखा गया है।"

इस सत्य की उपलब्धि ही धर्म जीवन का लक्ष्य है। मानव बुद्धि के विकास के साथ-साथ जिस प्रकार भौतिक सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है, हिन्दू धर्म यह मानता है कि उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी सत्य की उपलब्धि के नवीन मार्गों का विकास हो सकता है। उचित शिक्षा एवं संस्कार द्वारा जैसे व्यक्ति के चरित्र का संशोधन और विकास किया जा सकता है, उसी प्रकार योग्य व्यक्तियों द्वारा उचित धार्मिक शिक्षा सम्यक साधना तथा विवेकशील दर्शन के चिन्तन-मनन द्वारा अनुभव के आधार पर धार्मिक मतवादों में भी नवीन पथों का सृजन तथा विकास किया जा सकता है। हिन्दू धर्म के इतिहास में ऐसे महापुरुषों की एक लम्बी श्रृंखला है जिन्होंने धर्म का पथ प्रशस्त किया है। भगवान बुद्ध, वर्धमान महावीर, आचार्य

शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, गुरु नानकदेव, गुरु गोविंद सिंह, संत कबीर, गोस्वामी तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु तथा श्रीरामकृष्ण परमहंस ऐसे ही अवतारी पुरुष हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दू धर्म के पथ को बहुमुखी तथा प्रशस्त किया है। अपनी इस विशेषता के कारण ही हिन्दू धर्म आज के इस वैज्ञानिक युग में भी विज्ञान की चुनौती को स्वीकार कर विज्ञानसम्मत धर्म का प्रतिपादन कर धर्म के क्षेत्र में विश्व का मार्गदर्शन कर रहा है। युगाचार्य स्वामी विवेकानन्दजी ने इसी महान धर्म की घोषणा द्वारा विश्व में हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दू देश की विजय वैजयन्ती लहराई थी।

हिन्दू धर्म समन्वयवादी है, सम्प्रदायवादी नहीं

हिन्दू धर्म एक महासागर के समान है। जिसमें विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सरिताएँ आकर मिलती हैं और एक हो जाती हैं, किन्तु सागर गम्भीर और अविचलित ही रहता है। हिन्दू धर्म मानता है कि जिस प्रकार संसार में मनुष्यों की रुचियाँ परस्पर भिन्न भिन्न हैं, उनके स्वभाव भिन्न भिन्न हैं, किन्तु फिर भी सभी मनुष्य मानवता के नाते एक है। उसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी मनुष्य की रुचियाँ भिन्न भिन्न हैं, इसलिए उनकी धार्मिक भावनाएँ तथा धार्मिक साधनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की है, किन्तु धर्म के साधक के नाते सभी एक हैं। सभी व्यक्ति जो सच्चा धार्मिक जीवन यापन कर रहे हैं, वे उस एक परमात्मा की ओर ही जा रहे हैं, जो कि अनन्त रूपों और नामों में हमारे सामने विराजमान है। वेद घोषणा करते हैं— 'एकं सद्विप्रा बहुधा वन्दन्ति'। वह महान तत्त्व एक ही है, विद्वानगण उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं।

हिन्दू धर्म ईश्वर की एकता और अनेकता में एक साथ विश्वास करता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक ईश्वर के किसी विशेष रूप और नाम की उपासना करता है। यह उपासना पद्धति हिन्दू धर्म में इष्ट की साधना कही जाती है। एक नाम रूप में निष्ठावान होकर वही साधक जब अपनी साधना में उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है, तब वह यह अनुभव करने लगता है कि भिन्न भिन्न नाम तथा रूपों में भासित होने वाला वही एक अखण्ड अद्वय तत्त्व ही विराजमान है। इस अनन्त नामरूपों में भासमान ईश्वर की पूजा भी अनन्त प्रकार से की जा सकती है। हिन्दू धर्म कहता है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म पूजा हो सकता है, ईश्वर प्राप्ति का उपाय हो सकता है, यदि वह उस कर्म को उपासना बना ले तथा चर-अचर में व्याप्त प्रभु को उपास्य समझे।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥(गीता १८/४६)

— "जिस परमात्मा से समस्त भूतों की उत्पत्ति हुई है तथा जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा को अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त करता है।" इतना विशाल और उदार दृष्टिकोण है हिन्दू धर्म का उपासना प्रणाली के सम्बन्ध में। हिन्दू धर्म किसी सम्प्रदाय-विशेष का पक्ष नहीं लेता। वह सभी को मान्यता देता है। सभी को स्वीकार करता है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्दजी ने ११ सितम्बर १९९३ ई. के दिन शिकागो की धर्ममहासभा में सिंह-गर्जना की थी—

"मुझे उस धर्म के अनुयाई होने का गर्व है, जिसने

विश्व को सहिष्णुता एवं विश्वस्वीकृति सिखाया है। हम केवल विश्व सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते किन्तु सभी धर्मों को सत्य स्वीकार करते हैं।"

असम्प्रदायिकता, समन्वय और धार्मिक सहिष्णुता की इससे उदार और महान परिभाषा क्या हो सकती है? इन तथ्यों से यह स्वयंसिद्ध है कि हिन्दू धर्म संपूर्ण असाम्प्रदायिक एवं समन्वयवादी है। ऐसे धर्म को साम्प्रदायिक कहना ही सबसे बड़ी साम्प्रदायिकता तथा मानवता के प्रति महान अपराध है।

हिन्दू धर्म त्यागवादी है, भोगवादी नहीं

श्रीरामकृष्णदेव से किसी भक्त ने एक बार पूछा था, "महाराज, गीता का सार क्या है?" उन्होंने कहा, "लगातार दस बार 'गीता गीता' उच्चारण करने पर जो होता है वही गीता का सार है।" अर्थात् लगातार गीता गीता कहने पर उसका त्यागी उच्चारण बन जाता है। बस यही गीता का सार है। और यदि एक शब्द में कोई हिन्दू धर्म का सार जानता चाहे तो वह है— 'त्याग'— क्षणभंगुर संसार का त्याग, अपने स्वार्थ का त्याग, इन्द्रियों की दासता का त्याग। त्याग की जितनी महिमा हिन्दू धर्मशास्त्रों में गाई गई है, त्यागी का जितना सम्मान हिन्दू समाज में है, उतना विश्व के किसी समाज और शास्त्र में नहीं है। गीता में तो त्याग को तत्काल शान्ति देनेवाला एवं सर्वश्रेष्ठ बताया गया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२/१२)

— "अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से परमेश्वर का

ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान से कर्मफलों का त्याग श्रेष्ठ है तथा त्याग से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति होती है।"

हमारे धर्म के सभी आचार्य, ऋषि-मुनि, साधक, संन्यासी, यहाँ तक कि सद्गृहस्थ भी त्याग और सेवा के आदर्श प्रतीक रहे हैं। रन्तिदेव जैसे कितने त्यागियों की अमर गाथाओं से हमारा पुराण साहित्य सुशोभित है। यही वह धर्म है, यही वह देश है जिसमें राजकुमार सिद्धार्थ और राजपुत्र वर्धमान ने तरुण अवस्था में ही राज्य सुख तथा सुन्दरी पत्नी का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसी धर्म के अनुयायी सम्राट हर्ष ने धर्मकार्यों के लिये अपने राजकोष की पाई-पाई दान दे दिया था। इसी देश की त्यागी सन्तानों ने चीन, बर्मा, मलाया, स्याम, श्रीलंका तथा यूनान, रोम आदि सुदूर पश्चिम के देशों तक हमारी संस्कृति का प्रचार किया था। यही वह देश है जहाँ सर्वस्वत्यागी सन्यासी स्वामी विवेकानन्द की गाड़ी को राजा-महाराजाओं ने स्वयं कंधा लगाकर खींचा था। हमारे ही धर्म ने जनक जैसे राजाओं को उत्पन्न किया था, जिन्होंने राजवैभव में रहकर भी त्याग और तपस्या का उज्जवल आदर्श रखा था। यह त्यागवृत्ति ही हमारे धर्म का प्राण है।

किन्तु व्यथित हृदय से हमें स्वीकार करना पड़ता है कि इस महान धर्म के अनुयायी आज आत्मविस्मृत होकर स्वयं को हिन्दू कहने में लज्जा और हीनता का अनुभव करते हैं। अपने उदार और सहिष्णु धर्म को साम्प्रदायिक कहते हैं। त्याग और सेवा के महान आदर्श को छोड़कर भोग और स्वार्थ की ओर प्रवृत हो परमुखापेक्षी हो रहे हैं।

उपनिषद् हमारा आह्वान करते हैं— "उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" — उठो, जागो और वरिष्ठ लोगों से

बोध प्राप्त करो। हम अपने हृदय में गर्व का अनुभव करें कि हमने इस महान धर्म के अनुयायियों के देश में जन्म लिया है। गर्व करें कि हम उन ऋषियों की सन्तान हैं, जिन्होंने सपूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब माना था। गर्व करें कि हम उस जाति के वंशधर है जिसने 'शस्त्र' नहीं, 'शास्त्र' से विश्व को जीता था। गर्व करें कि हम उन माताओं के सपूत हैं, जिन्होंने समर्थ रामदास, सन्त ज्ञानेश्वर, श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द को जन्म दिया था। गर्व करें अपने अतीत के उस इतिहास पर, जिसने विश्व में सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान की प्रथम रश्मि प्रस्फुटित की थी। यदि हम अपने धर्म, अपनी जाति तथा अपनी संस्कृति की महानता का चिंतन करें तो हमारे हृदय की समस्त दुर्बलताएँ दूर हो जायेंगी। भगवान नारायण की शक्ति उनकी कृपा और ऋषियों का आर्शीवाद हमारे साथ है ही।

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(बयालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड मठ में तथा बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काकुडगाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप में चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

अवतार तथा ईश्वरतत्त्व

डॉ. महेन्द्रलाल सरकार में जो अपूर्णता है, उसे दूर करने के लिए श्रीरामकृष्ण ईशान को उनके साथ चर्चा में लगाते हैं। डॉक्टर बड़े सरल और बुद्धिमान हैं, हृदय भी बड़ा साफ है, लेकिन जो बात उनकी बुद्धि को नहीं पटती, उस पर वे विश्वास नहीं करते। डॉ. महेन्द्रलाल उस समय के श्रेष्ठ चिकित्सकों में से एक थे। विभिन्न स्थानों से रोगी उनके पास आते थे और वे प्रत्येक रोगी के लक्षणों को ग्रन्थ से मिलाकर देखते थे, इसलिए हर रोगी को देखने में उन्हें समय भी बहुत लगता था। लेकिन श्रीरामकृष्ण के साथ भेंट होने के बाद से वे उन्हीं के बारे में सोचते रहते थे। इसी सम्बन्ध में एक दिन वे श्रीरामकृष्ण से कहते हैं— "तुम्हारे पल्ले पड़कर तो मेरा सब गया, रात से ही परमहंस का चिन्तन चल रहा है।" रोगी जिन्हें आधा-एक घण्टा के लिए भी नहीं पाते, वे ही श्रीरामकृष्ण के प्रति इतने आकृष्ट हो चुके थे। कि उनके पास पाँच-छह घण्टे बिता देते। परन्तु इसी परन्तु इसी कारण श्रीरामकृष्ण की बातों को वे बिना

विचार किए मान लें, उनके सामने आत्मसमर्पण कर दें, ऐसे व्यक्ति वे नहीं थे। लेकिन श्रीरामकृष्ण भी छोड़नेवाले नहीं थे। उन्हें डॉक्टर में जहाँ-जहाँ खामियाँ दिखाई दीं, उन सबको उन्होंने दूर करना चाहा। डॉक्टर अवतार नहीं मानते। इसीलिए श्रीरामकृष्ण के भक्तों के साथ उनका प्रेम सम्बन्ध होते हुए भी, इस प्रसंग में उनके साथ तकरार करते हुए वे कहते—"तुम लोग इस भले आदमी का दिमाग खा रहे हो। मनुष्य क्या कभी ईश्वर हो सकता है?" अन्य दिन तो श्रीरामकृष्ण इस बात की हँसी उड़ाते थे, लेकिन आज न जाने उनके मन में क्या आया, उन्होंने ईशान से इस विषय पर बोलने को कहा। अवतार मानना कोई बुद्धिहीनता नहीं है– यही बात डॉक्टर को समझाना उनका उद्देश्य था। ईशान को प्रारम्भ में ही हीला-हवाली करते देख श्रीरामकृष्ण नाराज होकर बोले— "क्यों? यथार्थ बात भी नहीं कहोगे?" इसके पहले जब श्रीरामकृष्ण के भक्तों ने अवतार के रूप में उनका प्रचार करने का प्रयत्न किया था, तब एक दिन खूब नाराज होकर उन्होंने कहा था, "कितने बड़े-बड़े पण्डित लोग मुझे अवतार कह गये हैं और आज ये डॉक्टर और अभिनेतागण भला क्या प्रचार करेंगे? अवतार सुनते-सुनते अब मुझे इससे घृणा हो गई है। जिन्होंने पहले ऐसी बात कही है, वे ही आज ईशान को अवतार के प्रसग में कुछ बोलने के लिए आदेश दे रहे हैं, इसके पीछे उनका अभिप्राय आत्मप्रचार नहीं हो सकता। वे जिनसे प्रेम करते हैं एवं जो उनसे प्रेम करते हैं, उन डॉक्टर की अपूर्णता —भ्रान्त-धारणा को दूर करना ही उनका उद्देश्य है। इसीलिए वे ईशान की बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि ईश्वर के स्वरूप को समझना मनुष्य के साध्य में नहीं

है। गीता में है—

अवजानन्ति मां गूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥९/११

—मूढ़ व्यक्ति उनके वास्तविक स्वरूप को न समझ पाकर, उन्हें मनुष्य समझते हुए, अवज्ञा करते हैं। और मनुष्य के लिए उनको समझ पाना क्या सभी सम्भव है? हमारी इस पृथ्वी के समान करोड़ों-करोड़ों लोकों के जो स्रष्टा हैं, जिनके निर्देश पर विश्व की प्रत्येक वस्तु चल रही है, धूलि कण के समान नगण्य मानव क्या कभी उन्हें पूर्णरूप से समझ सकता है? भगवान विश्व के सृष्टि, स्थिति तथा संहारकर्ता हैं— यह बात भले ही समझ में आ जाय, पर वे मनुष्य बनकर मनुष्य के समान सारे व्यवहार कर रहे हैं, इस बात की धारणा करना मनुष्य के लिए असम्भव है। ईश्वर मनुष्य-शरीर धारण करके सुख-दु:ख, रोग-शोक आदि सब भोग रहे हैं, यहाँ तक कि प्रिय मिलन के लिए उत्सुक हो रहे हैं, प्रिय के विरह में रो रहे हैं— सभी अवतारों में यह लीला दिखाई देती है। साधारण मनुष्य के लिए ईश्वर के इस भोग को मान लेना कठिन है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह व्यक्ति ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर है, इस बात की कल्पना मनुष्य भला कैसे करेगा? विस्मित होकर यही बात देवकी भी कहती है—'अहो नृलोकस्य विडम्बन हि तत्।' जो असीम अनन्त हैं, वे ही इस साढ़े तीन हाथ के मनुष्य शरीर में समाये हुए हैं, ऐसी धारणा हम कैसे कर सकते हैं? इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं,—सेर भर के लोटे में क्या चार सेर दूध समा सकता है? ईश्वर क्या हो सकते हैं और क्या नहीं, इसका सीमा-निर्धारण करना मनुष्य के लिए कभी सम्भव नहीं है— क्योंकि वे ही स्वराट् है और जीव क्षुद्रातिक्षुद्र है।

इस प्रसंग में वैकुण्ठ से लौट रहे नारद की कथा स्मरणीय है। किसी ने नारद से पूछा, "महाराज, क्या आप वैकुण्ठ गये थे? आपने भगवान को क्या करते देखा?" नारद बोले, "वे सुई के छेद से हाथी को घुसा रहे हैं।" इस असम्भव बात को सुनकर वह व्यक्ति हँसने लगा। उसे विश्वास ही नहीं हुआ कि नारद सचमुच वैकुण्ठ गये थे। किन्तु एक अन्य व्यक्ति नारद का उत्तर सुनकर बोले, "हाँ, अवश्य हो सकता है। उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।" यह जो बात है कि उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं– इसकी धारणा करनी होगी। इसीलिए श्रीरामकृष्ण बारम्बार कहते हैं, उनकी इति मत करना। वे साकार हैं, निराकार हैं, साकार-निराकार से परे भी हैं, और इसके अतिरिक्त भी क्या-क्या हैं, यह हमारी बुद्धि के अगम्य है।

तो फिर उनको समझने का उपाय क्या है?

श्रीरामकृष्ण, इसका उत्तर देते हैं, "इसीलिए जिन साधु-महात्माओं ने ईश्वर को पा लिया है, उनकी बात पर विश्वास करना पड़ता है। साधु लोग ईश्वर-चिन्तन में डूबे रहते हैं, जैसे वकील लोग मुकदमे में डूबे रहते हैं।" यदि भगवान के सम्बन्ध में कोई कुछ बोल सकता है, तो साधु लोग ही बोल सकते हैं, क्योंकि उनका मन-प्राण-आत्मा ईश्वर में ही लगा है। वे प्रति क्षण ईश्वर-चिन्तन करते हैं, अतः वे ही ईश्वर-तत्त्व कहने में समर्थ हैं। इसलिए उन पर विश्वास करना पड़ता है।

भगवान की इति करना संभव नहीं है– इस बात को श्रीरामकृष्ण गिरगिट के रंग बदलने की कहानी के माध्यम से कई बार कह चुके हैं। उपनिषदों में भी ब्रह्म का वर्णन करते हुए उस पर अनेक विपरीत गुणों का आरोप किया

गया है, जिसके फलस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप को समझना तो दूर, उल्टे भ्रान्ति ही और बढ़ जाती है। इसीलिए एक बार एक ऋषि ने कहा था कि जैसे कहते हैं– यह एक घोडा है, यह एक गाय है— इसी प्रकार से ब्रह्म का वर्णन क्यों नहीं करते? परन्तु ब्रह्म को इस पद्धति से समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह इन चर्मचक्षुओं का विषय नहीं है। जैसे अन्धे को रंग समझाना सम्भव नहीं, उसी तरह जब तक किसी को भगवान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक अनेक प्रकार से चेष्टा करके भी उसे ईश्वर का तत्व ठीक-ठीक समझाना सम्भव नहीं।

चित्तशुद्धि और ईश्वरोपलब्धि

ईश्वरदर्शन के लिए शुद्ध दृष्टि, शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं हैं, वे कहेंगे कि मनुष्य को बहकाने के लिए ईश्वर की कल्पना की गई है। उनका मत है कि जो विज्ञान के द्वारा प्रमाणित न हो सके, उसका अस्तित्व हम क्यों मानें? वैसे सभी वैज्ञानिक ऐसा कहते हों, ऐसी बात नहीं। इस युग में अनेक वैज्ञानिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व पर चिन्तन आरम्भ किया है। फिर अनेकों ने इस विषय को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कर रखा है।

शास्त्रों ने भी ईश्वर के सम्बन्ध में कहा है, "यन्मनसा न मनुते," और अन्यत्र कहा है, "मनसैवेदमाप्तव्यम्।" इन विरोधी बातों का सामंजस्य ऐसे हो सकता है? एक स्थान पर कही गयी है अशुद्ध मन की बात और दूसरे स्थान पर तात्पर्य है रागद्वेषमुक्त शुद्ध संस्कृत वासनारहित मन से। मन छोड़कर मनुष्य और किस माध्यम से जान सकता है। मन

शुद्ध हो जाने पर ही बोध में बोध होता है; जिसके द्वारा जानेंगे और जिसको जानेंगे, दोनों ही तब एक हो जाते हैं– उसी का नाम है बोध में बोध होना।

शुद्ध बुद्धि जो है, शुद्ध आत्मा भी वही है। शुद्ध बुद्धि से शुद्ध आत्मा का मिलन— सारा भेद दूर होकर 'तदाकाराकारित' हो जाना। यह एकीकरण होने पर ही उसे जानना कहते हैं। आचार, अनुष्ठान, विचार के द्वारा यह बोध सम्भव नहीं है– केवल चित्त को सर्वद्वन्द्व से मुक्त करके शुद्ध कर पाने पर उसी के द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार सम्भव है। एक बार चित्त शुद्ध हो जाने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते– हजार वर्षों का अँधेरा कमरा एक दियासलाई जलाते ही उजाला हो जाता है।

पर यह दियासलाई जलाना ही तो कठिन है। दिलासलाई घिसते चले जा रहे हैं, पर वह जलता ही नहीं। यद्यपि उसे जलाने की प्रक्रिया भी है, किन्तु मनुष्य में वह धैर्य सहिष्णुता व तितिक्षा नहीं है। वही प्रयास करना होगा। वैज्ञानिक कहते हैं कि वे अपने समस्त परीक्षित सत्य किसी भी व्यक्ति को समझाने में सक्षम हैं। किन्तु विज्ञान के सम्बन्ध में जिसे किसी प्रकार का प्रारम्भिक ज्ञान ही नहीं है, उसे प्रयोगशाला में बैठा देने से जैसे वह कुछ समझ नहीं सकेगा, इसी प्रकार आध्यात्मिक विद्या के क्षेत्र में भी मानसिक तैयारी की आवश्यकता है। तत्व जानने की क्षमता सबमें है, किन्तु जानने के लिए जिस साधना की आवश्यकता है, वह समस्त साधनाओं से भी कठिन है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक पूर्व-तैयारी की आवश्यकता होती है। दुरूहतम आत्मवस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए

वह तैयारी निश्चित रूप से और भी कठिन है। इस पर गौर किये बिना ही हम कहते हैं कि जब सभी लोग ईश्वर को नहीं जान सकते तो फिर उसके अस्तित्व को हम कैसे मानें? लेकिन यह भाव ठीक नहीं। सभी जानने के अधिकारी है, किन्तु समस्त ज्ञान साधन-सापेक्ष है।

श्रीरामकृष्ण की उपदेश-प्रणाली

श्रीरामकृष्ण डॉ. सरकार से कहते हैं, "संन्यासी के लिए आवश्यक है कामिनी-काचन का त्याग करना।" किन्तु वे जिनसे कह रहे हैं, वे संन्यासी नहीं, संसारी हैं। उनके लिए सम्पूर्ण त्याग सम्भव नहीं। इसीलिए सावधानीपूर्वक कहते हैं, "परन्तु यह आप लोगों के लिए नहीं, यह संन्यासियों के लिए है। आप लोग जहाँ तक हो सके, स्त्री के साथ अनासक्त होकर रहिए।" केवल अनासक्त रहने का उपदेश देकर वे उपरत नहीं हो गए, आनासक्ति के अभ्यास का उपाय भी बताया, "बीच बीच में निर्जन में जाकर ईश्वर चिन्तन कीजिए। वहाँ पर वे न रहें!" यह सच है कि वे स्त्रीसग से दूर रहने के लिए कहते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वे उनसे घृणा करते हों। समस्त स्त्रीजाति के प्रति मातृभाव ही श्रेष्ठ भाव है— यही बात उन्होंने बारम्बार स्मरण कराई है। माँ के साथ सन्तान का सम्बन्ध मधुर है और पवित्र भी, इसीलिए इस विषय पर उन्होंने जोर दिया है। "या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता"— वे सर्वभूतों में मातृरूप विराज रही हैं। अतः घृणा का प्रश्न ही नही उठता। घृणा करके किसी को दूर नहीं रखा जा सकता। मुकुन्ददास के एक पद में है—

जारे तुई करबि घृणा, राखबि दूरे दूरे
से तोरे टानबे नीचे, राखबे पीछे
रबे सारा हृदय जुड़े।

—"जिससे तू घृणा करेगा और दूर रखेगा, वही तुम्हें नीचे खींचेगा, पीछे रखेगा, पूरे हृदय में छाया रहेगा।" घृणा करने पर घृणित वस्तु सम्पूर्ण हृदय में समायी रहती है। इसलिए घृणा नहीं बल्कि एक शुद्ध पवित्र भाव हृदय में रखने पर, फिर कोई भय नहीं रह जाता।

श्रीरामकृष्ण ने जब भी कोई उपदेश दिया है, तो साथ ही उसको क्रियान्वित करने के लिए प्रणाली भी बताई है। विशेष अधिकारी के लिए उनके विशेष उपदेश रहते थे, तथापि सर्वसाधारण के सामने उन्होंने जब भी कुछ कहा है, बड़ी सावधानी के साथ कहा है। अति उच्च और दुरूह आदर्श को सामान्य लोगों के समक्ष नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उसका पालन न कर पाने से मन में हताशा या हीनभावना आ सकती है।

गीता में भी भगवान ने कहा है कि ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों ही अच्छे हैं, किन्तु कर्मयोग श्रेष्ठतर है; क्योंकि इस रास्ते से सभी लोग आगे बढ़ सकते हैं और जो लोग आगे बढ़ चुके हैं, कर्मयोग के द्वारा जिनका चित्त शुद्ध हो चुका है, मन बहुत कुछ संयमित हो गया है, उन्हीं के लिए ज्ञानयोग उपयोगी है। मन की यह तैयारी हुए बिना ज्ञानयोग की चर्चा करने से अपकार ही होता है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण अन्यत्र कहते हैं, "सब कुछ हो रहा है तथापि 'मैं ही ब्रह्म हूँ'— यह कहना ठीक नहीं।" जिसने प्रवृत्तियों के ऊपर अधिकार कर लिया है, जिसका अभिमान प्रायः चला गया है, एकमात्र वही 'मैं ही ब्रह्म हूँ' कह सकता है। उसके

लिए यह उपयोगी साधन है। किन्तु इन्द्रियों की अधीनता से जो अपने को मुक्त नहीं कर सका है, उसके 'मैं ही ब्रह्म हूँ' कहने से उसके अधोगामी होने का भय रहता है।

इसीलिए केवल बहुत ऊँचा आदर्श ही सामने रखने से नहीं हो जाता, उपदिष्ट व्यक्ति उस आदर्श का अधिकारी है या नहीं, इसका विचार करके आदर्श को उसके सामने रखना चाहिए। "अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः"– जो अधिकारी हैं वे उसी आदर्श का अनुसरण करके फललाभ करते हैं; अनधिकारी व्यक्ति द्वारा अनुसरण करने पर उसका सर्वनाश हो जाता है। भागवत में है– भगवान का उपदेश सुनना, उनकी लीला-कथा का स्मरण करना, किन्तु वे जो करते हैं, वह करने का प्रयत्न न करना। जो उनके स्वरूप में स्थित है, केवल वे ही उनके समान कार्य कर सकेंगे, अन्य नहीं। इसीलिए शास्त्र के किसी-किसी निर्देश का पालन करने के चेष्टा में कई बार बड़ा अनर्थ उपस्थित हो जाता है, क्योंकि हम अधिकारी का विचार नहीं करते। शास्त्र के निर्देश का एक ऊपरी तात्पर्य होते हुए भी, भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिए उसका भिन्न-भिन्न रूप है।

इस विषय में एक दृष्टान्त दिया गया है। एक बार देवताओं की ओर से इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन ब्रह्मा के पास उपदेश माँगने गए। सद्गुरु कभी पक्षपातपूर्वक भिन्न-भिन्न उपदेश नहीं देते, अतः ब्रह्मा ने दोनों को एक ही उपदेश दिया। किन्तु अधिकारी भेद से उस उपदेश का अर्थ इन्द्र ने एक प्रकार से तथा विरोचन ने दूसरे प्रकार से लगाया। उनका प्रश्न था कि आत्मा क्या है? इसलिए कि उस समय देवासुर संग्राम चल रहा था और उस संग्राम में विजयी होने के लिए अमरत्व प्राप्त करना आवश्यक था।

उन्होंने सुन रखा था कि आत्मा को जान लेने से ही अमर हुआ जा सकता है। उस आत्मज्ञान का उपाय जानने के लिए ही वे लोग उपदेश लेने गए थे। ब्रह्मा ने उन्हें बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करने के बाद एक सिकोरा जल लेकर आने को कहा। जल ले आने पर उन्होंने दोनों से पूछा, "सिकोरे के जल में तुम क्या देख रहे हो? जो देख रहे हो वही आत्मा है।" दोनों ने जल में अपना-अपना प्रतिबिम्ब देखा। विरोचन ने क्या समझा? उसने सीधा समझ लिया कि यह देह ही आत्मा है— यही तो जल में दिखाई दे रहा है। देह को पुष्ट रखो, स्वस्थ-सबल करो और युद्ध में विजय अवश्य होगी। वे प्रसन्न होकर लौट गए। इन्द्र भी पहले इसी तरह लौट रहे थे, परन्तु जाते-जाते उनके मन में प्रश्न उठा कि अलंकाररहित यह देह अभी एक प्रकार का दिखाई दे रहा है और अलंकारभूषित अवस्था में तो यह दूसरे प्रकार का दिखाई देगा। तो फिर क्या देह के भिन्न-भिन्न रूपों के फलस्वरूप आत्मा भी भिन्न हो जाती है? मन में प्रश्न उठा कि आत्मा नित्य होने से तो उसका एक स्थाई रूप होना चाहिए। परिवर्तित होने पर नित्य कैसे होगा, सत् कैसे होगा? तो फिर इस अनित्य और असत् देह को जान लेने पर अमर नहीं हुआ जा सकता। तब वे ब्रह्मा के पास लौट आए और अपने संशय को उनके सामने रखा। प्रश्न सुनकर ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए तथा उन्होंने और भी बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करने का आदेश दिया। इसी तरह उपदेश और ब्रह्मचर्य पालन का क्रम एक सौ एक वर्ष तक चलता रहा। तदुपरान्त इन्द्र ने आत्मा का स्वरूप जान लिया।

अधिकारी भेद से उपदेश का तात्पर्य भिन्न-भिन्न होता है, यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। उपदेश

देते समय अधिकारी का विचार नितान्त आवश्यक है। श्रीरामकृष्ण ने वचनामृत में बारम्बार कहा है, "नाहं नाहं, तूहू तूहू। सोऽहं कहना अच्छा नहीं।" 'सोऽहं' शास्त्र वाक्य है, सिद्धान्त है, तो भी ठीक नहीं है, यह उन्होंने साधारण मनुष्य को दृष्टि में रखकर कहा। अनधिकारी के लिए 'सोऽहं' कितना अनर्थकर है यह पण्डित-मूर्खों को देखकर ही समझा जा सकता है। शास्त्र पढ़ने मात्र से ही शास्त्र का तात्पर्य समझ में नहीं आता, इसका दृष्टान्त श्रीरामकृष्ण की राजा और भागवती पण्डित की उस अद्भुत कथा में है। 'पहले तुम समझो', राजा के इस वाक्य का विश्लेषण करते-करते पण्डित के सम्मुख भागवत का सार सत्य उद्भासित हो उठा कि एकमात्र वे ही सत्य हैं, बाकी सब मिथ्या है। इस सत्य की उपलब्धि के बाद फिर वे राजा के पास नहीं गए। क्योंकि उनके धन की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। उन्होंने सत्य को जान लिया था और तब उनका सब कुछ भगवान को समर्पित हो गया। उन्होंने किसी व्यक्ति से राजा को सन्देश भेज दिया कि अब मैं भागवत का अर्थ समझ गया हूँ। उसी तत्व में निष्णात होकर भगवान के चरणों में सर्वस्व समर्पण करने के लिए वे गृह त्यागकर चले गए। इसी का नाम है समझना।

शास्त्र-अध्ययन और अर्थबोध

शुद्धबुद्धि के बिना शास्त्र का अर्थ हृदयगम नही होता– "नैषा तर्केण मतिरापनेया" तर्क के द्वारा शास्त्र का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता, तत्त्वलाभ नही होता। "न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः"– यज्ञ, दान, ध्यान के द्वारा भी नहीं होता, यह बात गीता में भगवान ने भी कही है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है, "नानुध्यायाद् बहून्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" (४.४.२१)—अधिक शास्त्राध्ययन मन को शुद्ध नहीं करता। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "शास्त्र कैसा है, जानते हो, चीनी में रेत मिला हुआ है।" रेत को छोड़कर चीनी मात्र को ग्रहण कर पाना अर्थात् शास्त्र की चर्चा से मूल तत्त्व को पृथक् कर लेने पर शास्त्रपाठ का फल प्राप्त होगा।

इसीलिए हमारे शास्त्रों में विधान है कि गुरुमुख के बिना शास्त्र अन्वेषण करने से लाभ नहीं होगा। इसका कारण क्या है? गुरु जानते हैं कि किसके लिए कौन-सा पथ्य है और कौन-सा अपथ्य। वे विचार करके पथ दिखला दें तो तत्त्वलाभ सहज हो जाता है। स्वयं की बुद्धि के भरोसे निरपेक्ष भाव से शास्त्र का अर्थ जानने का प्रयत्न करने पर विभ्रान्त होने की सम्भावना है। क्योंकि जिस यंत्र के द्वारा हम शास्त्र चिन्तन कर रहे हैं, उसके भीतर इतनी मलिनता है कि वह तत्त्व को प्रकट नहीं कर पाता। इसीलिए शास्त्र कहते हैं, "आचार्याद्ध्येव विद्या वीर्यवत्तरा भवति"- केवल आचार्य से अर्जित विद्या ही अधिकतर शक्तिशाली होती है और अन्य विद्याएँ अविद्या का कार्य करती हैं। जिन्होंने शास्त्र के वास्तविक मर्म की उपलब्धि की है, केवल उन्हीं के मुख से सुनकर शास्त्र का अर्थ समझ में आता है। इसीलिए आवश्यकता है ब्रह्मज्ञ गुरु की, जो अधिकारी भेद से शिष्यों को, जिसका जिसमें मगल हो, उसी भाव में शिक्षा देते हों।

इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग प्रकार से उपदेश दिया है, जो सामान्य दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न है। कोई कह सकता है कि श्रीरामकृष्ण ने अपने

सन्तानों को चुन-चुनकर उपदेश दिए हैं, मक्खन निकालकर उनके लिए रख लिया और हम लोगों को केवल मट्ठा दिया है, पर ऐसी बात नहीं है। मक्खन सब के लिए पथ्य नहीं है। सबके पेट में सब तरह का खाना हजम नहीं होता, इसीलिए माँ भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन पकाती है। जैसा कि एक दिन माँ सारदादेवी द्वारा बनाई हुई पतली-पतली रोटियाँ और अन्याय वस्तुएँ खाने के बाद जब श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र से पूछा, 'खाना कैसा हुआ', तो उन्होंने कहा, 'रोगी का पथ्य खाया'। श्रीरामकृष्ण ने माँ को पुकार कर कहा, "अजी, नरेन्द्र के लिए मोटी-मोटी रोटियाँ और गाढ़ी दाल बना दिया करना, तभी उसका जमेगा।" इसी प्रकार सब उपदेश सबके लिए नहीं हैं, यह बात श्रीरामकृष्ण ने बारम्बार कही है।

अहैतुकी भक्ति

श्रीरामकृष्ण अहैतुकी भक्ति के सम्बन्ध में बोल रहे हैं। यह भक्ति निष्काम और स्वाभाविक है। प्रह्लाद में यही भक्ति थी। उन्होंने कहा था—मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल हरि के पादपद्मों में अव्यभिचारिणी भक्ति चाहता हूँ। भागवत में कहा गया है—

> आत्मारामाश्च मुनयः निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ॥ (१/७/१०)

—जो समस्त मुनि आत्माराम हैं, जिनका अन्तःकरण आनन्द से परिपूर्ण है, जिनमें कोई ग्रन्थि या वासना नहीं है, वे भी भगवान की भक्ति करते हैं, भगवान का गुण ही ऐसा है कि उनसे प्रेम किए बिना वे रह ही नहीं सकते। कोई हेतु

या वासना नहीं है, फिर भी भगवान से प्रेम करते हैं, इसीलिए उनकी भक्ति को 'अहैतुकी' कहा गया है।

आत्मा स्वतःप्रिय है। सभी अपनी आत्मा से प्रेम करते हैं। इसका कोई कारण नहीं है। अन्य वस्तुओं से प्रेम करने का कारण यह है कि वे आत्मा के लिए उपयोगी हैं, उसकी आवश्यकताएँ पूर्ण करती हैं, परन्तु जो बिना कारण ही, स्वभावतः, वस्तुधर्म से ही प्रिय है, वह है आत्मा। अतः वह स्वतःप्रिय है। उससे प्रेम किए बिना रहा नहीं जा सकता। आत्मा को इसी दृष्टि से देखकर भक्ति करने पर, उसमें कोई हेतु नहीं रह सकता।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। (केन. १/२)

—इन सबके पीछे जो विद्यमान है, उसे लोग स्वभावतः ही प्रेम करेंगे। गीता में भगवान ने चार प्रकार के भक्तों की बात कही है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ ७/१६

—पीड़ित, तत्त्वजिज्ञासु, भोगाभिलाषी एवं ज्ञानी — ये चार प्रकार के भक्त भगवान का भजन करते हैं। इनमें जो ज्ञानी हैं, वे भगवान के स्वरूप को जानकर उनसे प्रेम करते हैं; भगवान कहते हैं कि वे मेरी आत्मा हैं। इसीलिए वे श्रेष्ठ हैं। "उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"— ये सभी महान हैं, भगवान के पथ पर चलते हैं, किन्तु ज्ञानी मेरी आत्मा हैं, मेरे स्वरूप हैं। स्वरूप हैं इसलिए उनके प्रेम के पीछे कोई हेतु नहीं है।

किन्तु गीता में आर्त और अर्थार्थी भक्तों की निन्दा नहीं की गई है, वे भी महान हैं। क्योंकि पीड़ित होकर हाहाकार करने की अपेक्षा भगवान का शरणापन्न होना अथवा प्रयोजन-सिद्धि के लिए शठता के स्थान पर भगवान का शरणापन्न होना श्रेयस्कर है। शुद्ध भक्ति के दृष्टात अति विरल हैं, वासनाशून्य हुए बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। भगवान के सामने अपनी कोई कामना प्रगट करना निन्दनीय नहीं है, तथापि उससे भी अच्छा है उनमें केवल प्रेम करना। श्रीरामकृष्ण की भाषा में यह मानो राजा से लौकी-कुम्हड़ा माँगने के समान है। जो राजराजेश्वर हैं, उनसे तुच्छ वस्तु माँगना बुद्धिहीनता का परिचायक है। उनको चाहने पर सब छोड़ना होगा। अतः कामनाशून्य हुए बिना अहैतुकी भक्ति नहीं आती। फिर भी साधारण रूप से भक्ति करते-करते कामनाएँ घटती जाती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होता है, और जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहते हैं, आँख के जल से सुई का कीचड़ धुल जाने पर चुम्बक का आकर्षण समझ में आता है। मन शुद्ध होने के बाद भगवान के प्रति जो अदम्य आकर्षण होता है, वह अहैतुकी है। धन-यश आदि के लिए उद्देश्यमूलक रूप में या कौशलपूर्वक नहीं, कि उनमें प्रेम करूँ तो वे ही सब दे देंगे। केवल उन्हीं के लिए उन्हें चाहना— यही साधक की भक्ति की पराकाष्ठा है।

श्रीरामकृष्ण में सर्वभावों की पराकाष्ठा

श्रीरामकृष्ण डॉ. सरकार से अपनी बीमारी ठीक कर देने को कह रहे हैं, ताकि वे भगवान का नाम-गुणगान कर सकें। इसके उत्तर में डॉक्टर जब उन्हें ध्यान करने के लिए कहते हैं, तब श्रीरामकृष्ण बोलते हैं —"मैं एक ही दर्रे पर

क्यों चलूँ?" श्रीरामकृष्ण के एक ही ढर्रे पर न चलने का कारण था विविध प्रकार से ईश्वर का आस्वादन करने की उनकी इच्छा। साधक की साधना की यह पराकाष्ठा है – सभी रूपों में उन्हें देखना, सभी भावों में उनका अनुभव करना। उपनिषद कहते हैं, "सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः" —जहाँ भी जो कुछ भी देखता हूँ, सब वे ही हैं जो भी आस्वादन करता हूँ, उन्हीं का आस्वादन करता हूँ। इसीलिए शराबी का नशा आदि के जो दृश्य देखकर मनुष्य के मन में कुभावों का उदय होता है, उसे देखकर श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो जाते हैं। यही है उनका वैशिष्ट्य। साधना की पराकाष्ठा तक पहुँचने पर मन इतना शुद्ध हो जाता है कि वह सभी भावों में ईश्वर का आस्वादन कर सकता है।

और इसी सर्वभाव की पराकाष्ठा दिखाने के लिए श्रीरामकृष्ण ने शरीर धारण किया है। वे इस युग के अवतार हैं, इस युग के सबके लिए हैं; उनका जीवन सभी भावों के, सभी प्रकार के लोगों के लिए है। उनके जीवन का प्रत्येक दृष्टान्त किसी न किसी के लिए उपयोगी है। जिनका समग्र जीवन लोककल्याण के लिए हो, उनके एक ढर्रे का होने से कैसे चलेगा? उन्होंने अनेक प्रकार से भगवान का आस्वादन करके जगत् के सामने दृष्टान्त स्थापित किया है, जिसे देखकर मनुष्य अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्तकर उस ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा पा सके। यदि वे न दिखा देते तो विश्वासपूर्वक उस मार्ग में आगे बढ़ना हमारे लिए सम्भव न हो पाता।

सर्वभाव का यह समन्वय श्रीरामकृष्ण के भीतर जिस प्रकार से प्रस्फुटित हुआ है, वैसा दृष्टान्त विरल है। यहाँ पर

श्री चैतन्यदेव के जीवन से उनका सादृश्य दिखाई देता है। महाप्रभु भी इसी तरह कभी संकीर्तन, तो कभी नृत्य करते और कभी एकदम स्थिर, समाधिस्थ होकर बाह्यज्ञानरहित हो जाते। उनके जीवन में जैसे बाह्य, अर्धबाह्य और अन्र्दशा—ये तीन अवस्थाएँ थीं, वैसे ही श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी ये तीन भाव दीख पड़ते हैं। बाह्य अवस्था में वे भक्तों के साथ आनन्दपूर्वक वार्तालाप करते, भजन गाते, कभी वाणी रुद्ध हो जाती और भाव में नृत्य करते। फिर कभी स्थिर, शान्त, शारीरिक क्रिया रहित अवस्था हो जाती। इन विभिन्न अवस्थाओं में उच्च-नीच का तारतम्य नहीं है। विभिन्न अवस्थाओं में वे भगवान का आस्वादन करना चाहते हैं, यह वैविध्य ही उनके आस्वादन का विषय है। इन विभिन्न भावों में आस्वादन न कर श्रीरामकृष्ण यदि समाधिमग्न हो कर रहते, तो उससे कोई दोष नहीं होता। किन्तु वे तो सर्वभावों की समन्वयमूर्ति धारण करके आविर्भूत हुए हैं, ताकि सभी अपने-अपने आदर्श की पराकाष्ठा उनमें देख सकें। श्रीरामकृष्ण अवतार का यही वैशिष्ट्य है। इसके विपरीत यदि होता, तो उनका यह विशेष प्रकाश मानो खर्व हो जाता। सर्वभावों का ऐसा परिपूर्ण विकास सम्भवत: पृथ्वी पर पहले कभी नहीं हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने यह बात विशेष रूप से कही है। जगत् के आध्यात्मिक इतिहास में यह व्यक्तित्व अद्वितीय है। ज्ञान, भक्ति, योग का यह अपूर्व समन्वय जगत् ने पहले कभी नही देखा। अत्यन्त यौक्तिक दृष्टिकोण सम्पन्न स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धावश यह बात नही कहते, बल्कि दीर्घकाल तक उनकी परीक्षा करके वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे थे।

सीमित मन और ईश्वर की धारणा

डॉ. सरकार से उनके पुत्र के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण और भी एक बात कहते हैं, "कोई साला मेरा चेला-वेला नहीं है। मैं खुद सबका चेला हूँ! सभी ईश्वर के बच्चे हैं, ईश्वर के दास हैं, मैं भी ईश्वर का बच्चा हूँ, ईश्वर का दास हूँ। चाँद मामा सबके मामा हैं।" श्रीरामकृष्ण की इस बात को ठीक से समझ लेना होगा। वे अपने आपको किसी के सामने गुरु के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करते—इसके पीछे अभिप्राय क्या है? वे इस जगत् में सबको धर्मभाव देने आए थे। इस बात को कहीं-कहीं उन्होंने स्वयं भी व्यक्त किया है। पर यहाँ एक विशेष भूमि पर प्रतिष्ठित होकर उसके उल्टी बात कहते हैं। जैसा कि श्रीकृष्ण कहते हैं— "मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः"– लोग सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं। यहाँ 'मैं' का तात्पर्य द्विभुज मुरलीधारी श्रीकृष्ण से निश्चय ही नहीं है, क्योंकि यह कहना कि सभी प्रत्यक्ष रूप से उनके उसी स्वरूप की उपासना करते हैं, असत्य होगा। अनेक भक्त उन्हें उस रूप में नहीं चाहते। अतः समझना होगा कि भगवान अपने किसी सीमित रूप को ध्यान में रखकर नहीं कहते कि 'लोग मेरा अनुसरण कर रहे हैं'। जहाँ से सभी रूपों का आविर्भाव होता है और जहाँ सभी रूप पर्यवसित होते हैं, उसी रूप के सम्बन्ध में वे यह बात कह रहे हैं। इस बात की सही ढंग से धारणा न कर पाने पर अनेक प्रकार के तर्क, संशय, मतभेद आदि उपस्थित होंगे। भगवान की इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि उनके विभिन्न रूपों को हम जो पृथक्-पृथक् समझते हैं, वे सब वस्तुतः उन्हीं के रूप हैं, उन्होंने ही अपने आपको अनेक रूपों में व्यक्त किया है। इसीलिए उनका एक

और नाम है— 'विभु', जिसका अर्थ है— जिन्होंने विविध रूपों में अपने आपको व्यक्त किया है। उनके विविध रूपों में कोई छोटा या कोई बड़ा नहीं है। जो एक अविभाज्य, अखण्ड तत्त्व हैं, उनका कोई अंश नहीं होता। भागवत में कहा गया है— "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"— ये सब पुरुष के अंश या कला हैं, पर श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। यहाँ पर 'अंश' से तात्पर्य यह है कि अन्यत्र जो 'अभिव्यक्ति' है, वह थोड़ा-थोड़ा है। यह अभिव्यक्ति क्या वस्तु की क्षमता के तारतम्य के कारण है, या फिर जिन्होंने उस वस्तु की उपलब्धि की है, उनकी शक्ति के तारतम्य के फलस्वरूप है? इसे समझना होगा। जिन लोगों ने उपलब्धि की है उनकी शक्तियों में तारतम्य है, उसी के अनुसार कोई एक रूप उनके सामने व्यक्त होता है। किन्तु जिनका वह रूप है, वे तो इन समस्त अभिव्यक्तियों के ऊपर, इस जगत् में व्याप्त होकर इसके परे भी स्थित हैं। अतः जो सर्वव्यापी, सबके अन्तर्यामी और सबके परे भी है, उन्हें सीमित कर डालना बहुत बड़ा अपराध है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि भगवान की इति नहीं की जा सकती। वे इतना ही सकते हैं और इससे अधिक नहीं– ऐसा मत सोचना। तुम जितना कर सकते हो, उनका आस्वादन करो, किन्तु यह जान रखना कि वे तुम्हारे मन की सीमा में बद्ध नहीं होंगे। सीमित मन उनको समग्र रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। आधार के तारतम्यानुसार उनकी अभिव्यक्ति का तारतम्य हर युग में होता आया है। फिर भी जो अभिव्यक्ति समस्त खण्ड-अभिव्यक्तियों का अतिक्रम कर सर्वव्यापी बना हुआ है, वह मूल वे ही है और उनकी अन्याय अभिव्यक्तियाँ भी वे ही हैं, किन्तु वे उनके ऊपर भी हैं। ठाकुर इस बात पर जोर

देते थे कि जहाँ पर हमें अनुभव नहीं होता, वहाँ पर वे नहीं हैं, या कहीं पर वे अंश के रूप में हैं— ऐसी बात नहीं। प्रत्येक धूलिकण में भी वे पूर्ण रूप से विद्यमान हैं, प्रत्येक बिन्दु में सिन्धु निहित है। किन्तु हमारी दृष्टि सिन्धु का अनुभव न कर सकने के कारण उसे बिन्दु के रूप में देखती है। सिन्धु कभी बिन्दु नहीं होता, सिन्धु सिन्धु ही रहता है। अपनी लघुता के कारण हमें बिन्दु के रूप में उनका अनुभव करने में सुविधा होती है, परन्तु इससे उनका सिन्धुत्व बाधित नहीं होता— इस तत्त्व को हमें समझना होगा।

श्रीरामकृष्ण जो कहते हैं— कोई साला मेरा चेला-वेला नहीं है, यहाँ 'मैं' का अर्थ है यह शरीर। इस खोल के ही अर्थ में लोग इसे 'मैं' कहते हैं। वे कहते कि यह खोल तो कुछ भी नहीं है, इसके भीतर वे व्याप्त होकर स्थित हैं और भी कहा है कि इसके परे भी वे हैं—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

भगवान का एक चतुर्थांश है विश्व का यह भूतसमूह और उनका तीन-चौथाई अंश अमृतरूप द्युलोक में है, जो हमारी सीमा के परे है। अतः हम मन को चाहे जितना प्रसारित करें, समग्र रूप से उन्हें हृदयंगम करना सम्भव नहीं है। यह बात श्रीरामकृष्ण बारम्बार अपने भक्तों को स्मरण करा देते थे। इस दृष्टि से शास्त्र-मर्म का विचार करने पर उनके स्वरूप को कहीं भी हमें सीमित करके नहीं देखना पड़ेगा। विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में जो कुछ देख रहा हूँ, जो अंश की अभिव्यक्ति है, सब वे ही हैं। फिर इस आंशिक अभिव्यक्ति के परे जो है, वह भी वे ही हैं। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते— उन्हें जगत् के भीतर देखो और बाहर भी देखो। वे सर्वत्र परिपूर्ण रूप से विराजित हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु (२०)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखा उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप मे यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।—स.)

नवद्वीप से चलकर चैतन्यदेव शान्तिपुर में अद्वैताचार्य के घर आ पहुँचे। उनके आगमन के साथ ही वहाँ अगणित भक्तों का समागम होने लगा और पहले के समान ही आनन्दोत्सव और अहोरात्र संकीर्तन आरम्भ हो गया। आचार्य अपने परिवार सहित उल्लासपूर्वक सबके स्वागत और सेवा में लग गए। चैतन्यदेव की इच्छानुसार नवद्वीप को पालकी भेजी गयी, जिसमें बैठकर शचीदेवी भी वहाँ आ गयीं और पूर्ववत अपने हाथ मे भोजन पकाकर सन्यासी पुत्र को भिक्षा देने लगीं। संन्यासी चैतन्यदेव आज अपनी जननी के समक्ष वही मातृगतप्राण स्नेहाकांक्षी बालक निमाई हो गये थे। इस प्रकार दस दिन आचार्य के गृह में आनन्दोत्सव मनाने के बाद संन्यासी पुत्र ने माँ के चरणों में प्रणाम किया और काशी, प्रयाग, वृन्दावन आदि उत्तर-पश्चिम के तीर्थों के दर्शनार्थ जाने की अनुमति तथा आशीर्वाद की याचना की। माँ का आशीष शिरोधार्य कर उन्हें पालकी मे नवद्वीप भेजने के बाद परिव्राजक चैतन्यदेव सबसे विदा लेकर पुनः अपनी यात्रा पर चल पड़े।

मार्ग में जगह-जगह पर और भी अनेक भक्त साथ हो लिए, अतः क्रमशः उनकी टोली बढ़ते हुए एक विशाल जनसमूह में परिणत हो गयी। ये लोग जहाँ भी पहुँचते, वहाँ के स्थानीय भक्त-सज्जनगण ही इन लोगों की भिक्षा तथा निवास की सुव्यवस्था कर देते थे। टोली बड़ी हो जाने

के बावजूद निःसम्बल महाप्रभु पूर्ण रूप से भगवान के ऊपर ही निर्भर रहकर चलते जा रहे थे। उनके संगियों को भी कुछ संचय करने का उपाय नहीं था। जहाँ जैसा जुटता, उसी में वे लोग सन्तुष्ट रहते। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए, जब वे अग्रद्वीप के निकट पहुँचे तो चैतन्यदेव की तीक्ष्ण दृष्टि एक घटना की ओर आकृष्ट हुई।

एक दिन भिक्षा ग्रहण करने के बाद जब चैतन्यदेव ने मुखशुद्धि माँगी तो गोविन्द घोष नामक एक त्यागी सेवक गाँव में जाकर भिक्षा माँगकर एक हरीतकी ले आये और उसे तोड़कर आधी तो उन्होंने चैतन्यदेव के हाथ में दी तथा बाकी अंश को अपने कपड़े की छोर में बाँधकर रख लिया। अगले दिन भिक्षा के पश्चात् जब पुनः मुखशुद्धि की आवश्यकता हुई तो उन्होंने शीघ्रतापूर्वक वह बाकी टुकड़ा निकालकर चैतन्यदेव के हाथ में दे दिया। इस पर महाप्रभु को शंका हुई। उन्होंने पूछा, "गोविन्द, आज इतनी जल्दी हरीतकी कहाँ से मिल गयी।" इसके उत्तर में गोविन्द ने बताया कि कल की हरीतकी का आधा हिस्सा उन्होंने कपड़े में बाँध रखा था, तो सर्वत्यागी संन्यासी के मुखमण्डल पर एक तरह की अस्वाभाविक गम्भीरता प्रकट हुई। उन्होंने गोविन्द को एकान्त में बुलाकर कहा, "देखो, त्याग के पथ पर चलना बड़ा ही कष्टकर है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान पर पूर्णतः निर्भर न रहकर आत्मरक्षा के लिए सञ्चय करने का भाव तुम्हारे अन्तर में अब भी विद्यमान है। अतः तुम त्याग के पथ को छोड़कर संचय का पथ अपनाओ और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो।" गोविन्द अपनी भूल के लिए बारम्बार क्षमायाचना करते हुए उनके चरणों में पड़कर रोने लगे। चैतन्यदेव ने दिलासा देते हुए अत्यन्त

स्नेहपूर्वक उन्हें समझाना आरम्भ किया। परम शुभाकांक्षी अहैतुक दयासिन्धु जगद्गुरु के उपदेश से गोविन्द को अपनी दुर्बलता समझ में आ गयी। अति कातरता के साथ जब उन्होंने अपनी भलाई का ठीक-ठीक पथ पूछा, तो चैतन्यदेव उन्हें समझाते हुए बोले, "जन्म-जन्मान्तर के कर्मानुसार प्रत्येक जीव के पृथक-पृथक संस्कार होते हैं। तत्त्वज्ञानी गुरु का आश्रय तथा उनसे उपदेश लेकर अपनी अपनी क्षमता के अनुसार चिन्तन-मनन करते हुए अग्रसर होने पर ही श्रेयलाभ होता है। अपनी क्षमता पर विचार किये बिना ही स्वेच्छा से अथवा दूसरों के अनुकरण पर कोई पथ अपनाने से, कोई उन्नति होनी तो दूर विडम्बना की ही सृष्टि होती है।

चैतन्यदेव की इच्छानुसार गोविन्द ने गृहस्थी की, परन्तु भगवान की सेवा के निमित्त की, न कि अपने भोगसुख के लिए। भगवान की वात्सल्य भाव से सेवा करते हुए गोविन्द उनको चिन्मय नित्यपुत्ररूप में उपलब्धि कर परमानन्द के अधिकारी हुए थे। अग्रद्वीप का सुप्रसिद्ध गोपीनाथ विग्रह उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित हुआ और गोपीनाथ ने ही पुत्र के रूप में उनके पितृस्नेह का आस्वादन किया था।

यतिराज अब अपनी भक्तमण्डली के साथ आचाण्डाल सबको हरिनाम वितरित करते हुए, गंगा के तटवर्ती तीर्थक्षेत्रों का दर्शन करते हुए, उत्तर-पश्चिम की ओर चलते हुए, क्रमशः गौड नगर के निकट स्थित 'रामकेलि' नामक ग्राम में आ पहुँचे। रामकेलि एक अति सुन्दर और समृद्ध ग्राम था। वहाँ ब्राह्मण, वैद्य और कायस्थ जाति के बहुत से धनी-विद्वान सज्जनों का निवास था। सन्यासी का दर्शन

पाकर ग्रामवासियों के चित्त में श्रद्धाभक्ति का उदय हुआ। उन लोगों ने समवेत होकर परम आदरपूर्वक इस टोली का स्वागत-सत्कार किया और उनके आहार एवं निवास की सुव्यवस्था कर दी। रामकेलि के अनुरागी भक्तों के विशेष आग्रह पर चैतन्यदेव का वहाँ पर कई दिन विश्राम करना निश्चित हुआ। उनके साथ साथ बहुत से लोग आये हुए थे और वहाँ पर कई दिन विश्राम करने से उस टोली में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। वे भी सबके साथ हिल-मिलकर खूब सकीर्तन तथा हरिनाम का प्रचार करने लगे। इसके फलस्वरूप उस पूरे अचल में हलचल मच गयी और उन्हें केन्द्र बनाकर एक प्रबल धर्मान्दोलन प्रारम्भ हुआ।

इस आन्दोलन का सवाद क्रमश: गौड़धिपति हुसेन शाह के कानों तक जा पहुँचा और उनके मन में प्रबल आशका का उदय हुआ कि इसके फलस्वरूप देश में नहीं कोई विद्रोह-विप्लव न उठ खड़ा हो। हुसेन शाह ने केशव छत्री नामक अपने एक कर्मचारी को बुलाकर उन्हें इन सन्यासी के भाव, स्वाभाव तथा क्रियाकलाप के विषय में सूचनाएँ जुटाने का भार सौंप दिया। धर्मप्राण भक्त केशव छत्री ने चैतन्यदेव के बारे में खोज-खबर ली और नवाब को सूचित किया कि वे सन्यासी तीर्थयात्री भिक्षुक हैं, अत्यन्त शान्त-शिष्ट और सज्जन हैं, अत: उनसे भय पाने की कोई आवश्यकता नही। परन्तु हुसेन शाह निश्चिन्त नहीं हुए। लोगो के मुख से निरन्तर विविध प्रकार से सन्यासी के प्रभाव की बातें सुनते, उनका मन बड़ा चचल हो उठता था। उन्होंने चैतन्यदेव की गतिविधि पर निगाह रखने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की।

अब गुप्तचरों के माध्यम से नवाब को चैतन्यदेव के

बारे में सारी बातें ज्ञात होने लगीं। उनके अलौकिक चरित्र तथा लोगों पर अद्‌भुत प्रभाव की बात सुनकर उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित करने के लिए अपने विश्वस्त मत्री दबीर खास* से उनका मत पूछा। दबीर खास बड़े ही विलक्षण व्यक्ति थे और नवाब सर्वदा उनकी सलाह लेकर ही चलते थे। उस काल के मुसलमान राजागण केवल धर्म नहीं, बल्कि योग्यता के आधार पर राजकर्मचारियों की नियुक्ति करते थे, इस कारण उनके शासनकाल में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर हिन्दू कर्मचारी रखे जाते थे। हुसेन शाह ने अपने दबीर खास से पूछा, "इतने लोग इस सन्यासी का क्यों अनुसरण कर रहे हैं? दलबल के साथ सन्यासी के यहाँ आने का कारण क्या है? मैं तो बहुत प्रयास करके, तरह तरह की सुख-सुविधाएँ देकर भी लोगों को वश में नहीं कर पाता हूँ, जबकि इस सन्यासी के पीछे-पीछे हजारों लोग भटक रहे हैं। इस रहस्य का पता लगाना नितान्त आवश्यक है।" दबीर खास ने नबाब को अत्यन्त उद्विग्न देखकर उन्हें तरह-तरह से समझाकर शान्त करने का प्रयास किया और चैतन्यदेव की महानता का परिचय देते हुए बोले, "वस्तुत ये संन्यासी साधारण मनुष्य नहीं हैं। उनके भीतर ईश्वरीय शक्ति है, अन्यथा कभी इतने लोग उन्हें नहीं मानते! परन्तु उनसे भय पाने का कोई कारण नहीं क्योंकि वे राज्य-धन-सम्पदा आदि के आकांक्षी नहीं है, इन सबका उन्होंने विषवत् त्याग कर दिया है। एकमात्र भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में उनका मन नहीं लगता। फिर उनका धर्मभाव और चरित भी अति उदार और

* दबीर—सचिव, लेखक; खास—नीजी।

महान है। उनके पास ऊँच-नीच का विचार नहीं है, हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं है। वे सबको समान दृष्टि से देखते हैं, समान दृष्टि से प्रेम करते हैं। वे सर्वदा भगवान के नामगुण कीर्तन में लगे रहते हैं। जाति-वर्ण से निरपेक्ष रहकर सबमें भगवद्भक्ति का प्रचार करना तथा सबके चित्त को भगवान की ओर उन्मुख करना — यही उनका एकमात्र कार्य है। तीर्थयात्रा के सिलसिले में वे यहाँ आये हुए हैं, लोगों के आग्रह पर कुछ दिन विश्राम ले रहे हैं और शीघ्र ही वे पश्चिम की ओर प्रस्थान करने वाले हैं।" यह सोचकर कि नवाब का अन्तर मेरी बातों से प्रसन्न हो रहा है, दबीर खास और भी कहने लगे, "हुजूर, संन्यासी के बारे में मुझे विशेष जानकारी है। ऐसे साधु-व्यक्ति से आपका बिन्दुमात्र भी अनिष्ट न होगा, बल्कि लोगों के भीतर भक्ति बढ़ने से उनमें राजभक्ति की भी वृद्धि होगी और देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना सहज हो जाएगा।" नवाब के मन में सन्यासी के प्रति श्रद्धा का भाव जाग्रत करने के पश्चात दबीर खास ने कहना जारी रखा, "जहाँपनाह, आपका परम सौभाग्य है कि आपके राज्य में ऐसे धार्मिक महापुरुष स्वयं ही आकर निवास कर रहे है। ऐसे साधुपुरुष के प्रति किसी भी प्रकार का द्वेषभाव रखने से भगवान रुष्ट होते हैं और इनकी सेवा करने से हमारा महामंगल होगा।" अपने प्रिय और विश्वस्त मंत्री की बात सुनकर हुसेन साहब ने निश्चिन्त भाव से आदेश किया, "सन्यासी जितने दिन खुशी हो, रहें और उनके सेवा आदि में किसी भी प्रकार की त्रुटि न हो। उनकी देखभाल की जिम्मेदारी मैं तुम्हीं को सौंपता हूँ।"

शाकिर मल्लिक* (राज मंत्री) दबीर खास के ही छोटे भाई थे। ये लोग ब्राह्मण की सन्तान होकर भी अपनी शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन और पहरावे आदि में मुसलमानों के समान थे, इसलिए हो अथवा किसी अन्य कारणवश, कट्टरवादी सामाजिक दृष्टिकोण से वे लोग विधर्मियों के समान ही पतित माने जाते थे। परन्तु बाहर से भिन्न प्रतीत होने पर भी अन्तर से दोनों भाई सर्वशास्त्र में पारगत, देवद्विज-सेवापरायण, भगवद्भक्त और निष्ठावान हिन्दू थे।

चैतन्यदेव की महिमा से दोनों भाई विशेष रूप से परिचित थे। यद्यपि दोनों में से किसी का भी उनसे साक्षात् मिलन अथवा परिचय नहीं हुआ था, तथापि उनके बीच पत्रव्यवहार होता था। राजकाज का उत्तरदायित्व ही उनके बीच मिलन में बाधक था। महाप्रभु पहले हुसेन शाह के शत्रु के राज्य में निवास करते थे, अतः उनके जैसे उच्चाधिकारियों का वहाँ आना-जाना संकटपूर्ण था। अतः कुछ काल पूर्व दोनों भाइयों ने राजकर्म और गृहस्थाश्रम त्यागकर पुरी में जाकर उनके साथ मिलने की अनुमति माँगते हुए उन्हें पत्र लिखा था। इसके उत्तर में चैतन्यदेव ने उन्हें अनासक्त भाव से संसार के काजकर्म में लगे रहकर अन्तर में भगवान का चिन्तन करने का उपदेश दिया था और साथ ही इसी भाव का समर्थक एक श्लोक भी लिख भेजा था —

---

* शाकिर-श्रेष्ठ, मल्लिक-गौरवपात्र अर्थात् उच्च पदाधिकारी। किसी किसी के मतानुसार दबीर खास-सलाहकार सचिव और शाकिर मल्लिक-अर्थसचिव।

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम् ॥

(योगवाशिष्ठ, उपशम प्रकरण, ७४/८३)*

—"जैसे कुलटा स्त्री पति के गृहकर्म में लगी रहकर भी अपने अन्तर में उपपति के संगसुख का रसास्वादन करती रहती है; उसी प्रकार बाहर से संसार के कार्यों में व्यस्त रह कर भी, मन को भगवान में लगाए रखना चाहिए।" उनके इसी उपदेश का पालन करते हुए दोनों भाई भगवत्प्रेम के पथ पर अग्रसर हो रहे थे।

दबीर खास ने घर लौटकर शाकिर मल्लिक से संन्यासी के प्रति नबाब के इस मनोभाव अर्थात उनके सन्देह की बात कही। दोनों भाई इस विषय पर विचार-विमर्ष करने लगे। काफी तर्क-वितर्क के पश्चात् दोनों ने निश्चय किया, "हम चैतन्यदेव से मिलकर उन्हें राजा का मनोभाव बताएँगे और यह स्थान जितना शीघ्र हो सके छोड़कर चले जाने का अनुरोध करेंगे। दिन पर दिन लोकसमागम बढ़ता ही जा रहा है और विधर्मी राजा के मन की गति कौन जाने कब व कैसे पलट जाय!" नवाब से संन्यासी के सेवायत्न का अधिकार मिल जाने से अब उनके लिए चैतन्यदेव से मिलने का पथ काफी सुगम हो गया था। रात के समय दोनों भाई उनका दर्शन करने को जा पहुँचे। उनके आने का सवाद पाकर सन्यासी के भी आनन्द की सीमा न रही। अतीव

---

* यह श्लोक पचदशी में भी (ध्यानदीप प्रकरणम्, ८४) है। रूप और सनातन को उपदेश देते समय चैतन्यदेव ने बाद में भी पचदशी की उक्तियां उद्धृत की थीं। पचदशी अद्वैत वेदान्त का एक श्रेष्ठ प्रकरण ग्रन्थ है।

उल्लसित होकर प्रेमालिंगन के लिए दोनों बाहें पसारे वे स्वयं अग्रसर हुए। यद्यपि दोनों भाई राजतुल्य सम्मान के अधिकारी थे, तथापि उनके निकट आज वे अति दीन-हीन भाव से उपस्थित हुए। चैतन्यदेव को इस प्रकार अपनी ओर अग्रसर होते देखकर उन्हें मन ही मन बड़ा संकोच हुआ और वे भयभीत होकर अपराधी के समान पीछे हटते हुए हाथ जोड़कर बोले, "प्रभो, हम आपके स्पर्श के योग्य नहीं है।" आँखों में अश्रु भरे यह बात कहकर ही दोनों भाई धरती पर दण्डवत् लोट गये। चैतन्यदेव ने उनके ना-नुकर को न मानते हुए दोनों को प्रेमालिंगन में आबद्ध कर लिया। वे दोनों कातर वाणी में कहने लगे, "हम नीच जाति के हैं और नीचों के संग रहकर नीच कार्य करते हैं। म्लेच्छ जाति के होकर म्लच्छों के संग रहकर हम म्लेच्छ कर्म करते हैं। हमारा गोब्राह्मणद्रोहियों के साथ सम्बन्ध है। हमारे कर्मों ने ही हमारा गला पकड़कर हमें कुविषय के विष्ठागर्त में डाल दिया है।"

उनकी दीनतापूर्ण बातें सुनकर चैतन्यदेव का हृदय विगलित हुआ और वे कहने लगे, "सुनो दबीरखास-रूप, तुम दोनों भाई मेरे पुरातन दास हो। आज से तुम दोनों का नाम रूप और सनातन* होगा। दैन्य का त्याग करो, तुम्हारी दीनता देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।"

काफी काल बाद उनके अन्तर की आकांक्षा पूर्ण हुई। दोनों भाइयों ने निष्कपट भाव से चैतन्यदेव के समक्ष अपनी मर्मव्यथा कहकर उन्हें आत्मसमर्पण किया। महाप्रभु भी अतीव अनान्दित होकर उनसे बोले, "तुम दोनों को देखने के

* श्री रूप — शाकिर मल्लिक; श्री सनातन — दबीर खास

निमित्त ही मेरा यहाँ आगमन हुआ है, नहीं तो गौड़ देश आने का मेरा और कोई प्रयोजन नहीं था। मेरे अन्तर की यह बात किसी को भी ज्ञात नहीं है, इसीलिए सब कहते हैं कि ये रामकेलि ग्राम में क्यों आये हैं!"

फिर दोनों का नित्यानन्द प्रभु तथा अन्य विशिष्ट भक्तों के साथ परिचय कराया गया। दोनों भाइयों का विनय भाव, विनम्रता और श्रद्धाभक्ति देखकर सबका अन्तर पुलकित हुआ। फिर भगवच्चर्चा आरम्भ हुई। चैतन्यदेव के मुख से अमृतमय उपदेश सुनकर दोनों भाई अतीव हर्षित हुए।

विदा लेने के पूर्व सनातन ने चैतन्यदेव को हुसेन शाह के अन्तर का भाव बताते हुए कहा, "प्रभो! अब यहाँ पर आपका अधिक दिन ठहरना उचित नहीं, विधर्मी राजा के मन की मति-गति कब क्या होगी, इसका कोई ठिकाना नहीं।" उन लोगों की उक्ति का मर्म समझकर महाप्रभु ने बताया, "मैं शीघ्र ही यहाँ से प्रस्थान करूँगा। तुम दोनों के लिए ही मैं यहाँ इतने दिन प्रतीक्षा कर रहा था। तुम दोनों भाइयों से मिलन हो जाने के बाद अब मेरा यहाँ ठहरने का कोई प्रयोजन नहीं।" फिर दोनों भाइयों ने चैतन्यदेव को राजकाज के अपने गुरु दायित्व और विषय-सम्पर्क के बारे में अवगत कराते हुए, इन सबसे छुटकारा पाकर पूर्णरूपेण भगवान के पादपद्मों में आश्रय ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। इस पर उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा, "जैसा पहले ही पत्र में लिख चुका हूँ, उसी के अनुसार बाहर से संसार करो और अन्तर में भगवान का भजन करते रहो। समय आने पर वे ही पथ प्रदर्शन करेंगे।" अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ उनके चरणों में बारम्बार दण्डवत् प्रणाम करने के

पश्चात् दोनों भाइयों ने विदा माँगी और प्रभु ने भी प्रेमालिंगन देकर उन्हें कृतार्थ किया। जाते समय सनातन ने चैतन्यदेव को धीरे से कहा, 'यद्यपि गौडाधिपति की आपके प्रति बड़ी श्रद्धा है, तथापि आपका यहाँ से प्रस्थान कर देना ही उचित है, क्योंकि यवन जाति का कोई भरोसा नहीं। और इतना बड़ा दल लेकर तीर्थयात्रा पर जाने की तो प्रथा नहीं है। तीर्थयात्रा या तो एकाकी अथवा अपने ही भाव के किसी एक संगी के साथ करना उचित है।''

दो-तीन दिन बाद ही चैतन्यदेव रामकेलि से चल पड़े और क्रमश: अग्रसर होते हुए कन्हाई की नाट्यशाला* नामक स्थान में जा पहुँचे। कन्हाई की नाट्यशाला बड़ी प्रसिद्ध जगह है। कहते है कि वहाँ श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। उन सबका दर्शन करके सबने अतीव आनन्द का बोध किया। पथ चलते संगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होते देखकर चैतन्यदेव के मन में चिन्ता हुई। वे सोचने लगे कि बुद्धिमान सनातन ने ठीक ही कहा था, उसकी बातों में गहन तात्पर्य निहित है। इतने लोग साथ रहने पर शान्तिपूर्वक तीर्थदर्शन नहीं हो सकता। एकाकी संगीहीन होकर भगवान पर पूर्णत: निर्भर रहकर चले बिना उनकी कृपालाभ करना सम्भव न होगा। उन्हें यह भी स्मरण हो आया कि श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी तथा अन्य महात्मागण भी नि:संग तीर्थादि भ्रमण करते थे और इसी कारण उन पर प्रतिक्षण परम करुणामय भगवान की अशेष कृपादृष्टि हुआ करती थी। इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् चैतन्यदेव ने अपनी प्रस्तावित तीर्थयात्रा का

---

* कन्हाई की नाट्यशाला राजमहल के निकट अवस्थित है।

संकल्प त्याग दिया और कन्हाई की नाट्यशाला मे लौटकर वे पुनः शान्तिपुर में आचार्य के घर आ पहुँचे। अप्रत्याशित रूप से उन्हें पाकर आचार्य तथा भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। आचार्य-गृह में पुनः आनन्दोत्सव आरम्भ हुआ और नवद्वीप के भक्त भी आकर उसमें सम्मिलित हुए। उनकी इच्छानुसार पालकी भेजकर पुनः शचीदेवी को लाया गया।

इसी समय श्रीमत् रघुनाथदास नामक एक अन्तरंग भक्त ने शान्तिपुर आकर चैतन्यदेव के श्रीचरणों में आश्रय ग्रहण किया। रघुनाथ सप्तग्राम* के निवासी थे। आज के कलकत्ता के समान ही सप्तग्राम भी तत्कालीन बगाल के वाणिज्य का प्रधान केन्द्र था। सप्तग्राम के वणिकगण तब देश-विदेश में व्यवसाय करके देश की सम्पदा में वृद्धि कर रहे थे। स्वर्णिम बगाल की उस प्राचीन ऐश्वर्यपुरी सप्तग्राम के हिरण्य और गोवर्धन नामक दो भाई महाप्रतापी जमीदार थे। रघुनाथ उन्हीं के वंशधर छोटे भाई गोवर्धन के पुत्र थे। हिरण्य-गोवर्धन की जमींदारी की आय उन दिनों बारह लाख रुपए थी, जो आज के कई करोड के समतुल्य है। धार्मिक, परोपकारी और सदाशय हिरण्य-गोवर्धन बडे आनन्दपूर्वक अपनी धनराशि को विविध प्रकार के सत्कर्मों में व्यय करते थे; नवद्वीप तथा अन्य स्थान के विद्यार्थियों के लिए भी उनका धनागार सदा उन्मुक्त रहता था। देवालय निर्माण, धार्मिक सज्जनों की सेवा आदि में भी उनकी रुचि थी। कहते हैं कि चैतन्यदेव के नाना ज्योतिर्विद नीलाम्बर चक्रवर्ती तथा अद्वैताचार्य उनके विशेष श्रद्धाभाजन थे।

भगवद्भक्ति-परायण रघुनाथ बचपन से ही चैतन्यदेव

* सप्तग्राम हुगली जिला में त्रिवेणी के निकट स्थित है।

की महिमा सुनकर उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे और संन्यास के पश्चात जब वे शान्तिपुर आये उस समय रघुनाथ भी उनका दर्शन करने को आचार्य के घर उपस्थित हुए थे। चैतन्यदेव को देखकर तथा उनसे वार्तालाप कर रघुनाथ के मन में इतने प्रबल आकर्षण का उदय हुआ कि वे उसी समय घर-बार त्यागकर सदा-सर्वदा उनके साथ निवास करने को लालयित हुए थे। परन्तु उस समय चैतन्यदेव ने उन्हें काफी समझा-बुझाकर घर में ही रहकर भगवद्भजन करने का उपदेश देकर लौटा दिया था। उनके आदेशानुसार घर में रहकर भगवद्भजन में काल यापन करते हुए भी रघुनाथ का मन चैतन्यदेव के ही चरणों में पड़ा रहता था। वे दिनरात यही सोचते कि कब और कैसे उनका पुन: दर्शन मिले। इसके कुछ काल बाद जब प्रभुपाद नित्यानन्द चैतन्यदेव की इच्छानुसार भगवदभक्ति का प्रचार करने गौड़देश आये तब उनकी कृपा पाकर रघुनाथ का मन थोड़ा शान्त हुआ था। सप्तग्राम के धनिकवर्ग तथा अन्य भक्तों के आग्रह पर नित्यानन्द जब वहाँ निवास करते थे, तब रघुनाथ को भी उनके दर्शन का सुयोग मिलता था।

इसी प्रकार कुछ काल व्यतीत होने के बाद रघुनाथ के अन्तर का वैराग्य अति प्रबल हो उठा। एक दिन मौका पाकर वे घर से भाग निकले और चैतन्यदेव से मिलने नीलाचल के पथ पर चल पडे। रघुनाथ के अभिभावकों के पास आदमियों की कमी तो थी नहीं; उन लोगों ने तलाश कराकर उन्हें रास्ते से ही पकडवा कर बुला लिया। रघुनाथ को बडा समझाया गया। उनके माता, पिता, ताऊ तथा सगे-सम्बन्धियों ने दु:खी चित्त से उन्हें बहुत सी बातें कही, परन्तु इससे उनके वैराग्य में थोड़ी भी न्यूनता नहीं आयी।

धन-जन और अतुल ऐश्वर्य का मोह, सुन्दरी स्त्री का प्रेम, माता-पिता और ताऊ-ताई का स्नेह—उनके उस प्रबल वैराग्य के समक्ष इन सबको हथियार डालना पड़ा। माया का बन्धन उन्हें आबद्ध नहीं रख सका और वे बारम्बार घर से पलायन करने का प्रयास करने लगे। वंश के इकलौते प्रदीप होने के कारण दूसरा कोई चारा न देख अभिभावकों ने उन्हें घर में बन्द कर दिया और दिनरात पहरा देने की व्यवस्था कर दी।

कन्हाई की नाट्यशाला से चैतन्यदेव के लौट आने के बाद शान्तिपुर में जो आनन्दोत्सव चल रहा था, उसका संवाद लोगों के मुख से रघुनाथ के पास भी जा पहुँचा। वे अत्यन्त व्यग्र होकर अति कातरतापूर्वक अपने मातापिता के समक्ष चैतन्यदेव का दर्शन करने जाने को अनुनय-विनय करने लगे। उनकी कातरता और व्याकुलता देखकर माता, पिता और ताऊ का मन विचलित हो गया। हिरण्य-गोवर्धन ने तरह तरह के उपहारों के साथ, प्रहरियों के संरक्षण में रघुनाथ को शान्तिपुर भेज दिया। चैतन्यदेव का दर्शन तथा उनके श्रीचरणों का स्पर्श पाकर रघुनाथ का हृदय शान्त हुआ। चैतन्यदेव ने भी उनके प्रति अपने असीम स्नेह का परिचय दिया और कई दिन अपने पास रहने की अनुमति दी। शान्तिपुर के उस 'प्रीतिनगर' में रहकर 'प्रेम के बाजार' में इस बार रघुनाथ ने काफी सौदा किया। विशिष्ट भक्तों के साथ भी उनकी जान-पहचान और मेल-मुलाकात हुई। उस समय वहाँ उनका अधिकांश समय भगवत्प्रसंग और भजन-कीर्तन में ही बीतता था। चैतन्यदेव और उनके पार्षदों का अद्भुत जीवन तथा विचित्र भावावेश देखकर उन्हें इस मर्त्यलोक की बातें विस्मृत हो जाती थीं। संसार की गन्दगी,

विषय-विष की तिक्तता तथा ईर्ष्या-द्वेष-कलह आदि का वहाँ नामगन्ध तक न था। यहाँ प्रेम-भक्ति-प्रीति, विषय-वितृष्णा, देह-गेह की उपेक्षा, सुख-दुःख में समभाव—ये ही दर्शनीय वस्तुएँ थीं। रघुनाथ का चित्त आनन्द मे सराबोर हो गया। इसी बीच एक दिन अवसर देखकर रघुनाथ ने चैतन्यदेव के समक्ष अपने अन्तर का भाव व्यक्त किया और घर न लौटकर सर्वदा उन्हीं के चरणों में रहने की अनुमति माँगी। रघुनाथ का विषयों के प्रति विराग और ईश्वर में अनुराग देखकर चैतन्यदेव का चित्त अतीव प्रसन्न हुआ और उन्हें तत्काल संसार त्याग करने से मना करते हुए वे बोले, "बावले मत बनो। शान्त होकर घर लौट जाओ। भवसिन्धु का किनारा किसी को भी धीरे-धीरे ही प्राप्त होता है। लोगों के समक्ष अपने मर्कट-वैराग्य का प्रदर्शन मत करना। अनासक्त भाव से यथायोग्य विषयों का भोग करना। निष्ठा को अन्तर में रखकर बाहर से लोकव्यवहार करो। इससे कृष्ण तुम्हारा शीघ्र ही उद्धार करेंगे।"

सदुपदेश और सान्त्वना पाकर रघुनाथ का मन काफी कुछ शान्त हुआ। चैतन्यदेव के शान्तिपुर से विदाई के समय वे भी बारम्बार उनके चरणों में पड़कर उनका तथा अन्य भक्तों का आशीर्वाद लेकर घर लौटे। विदा करते समय चैतन्यदेव ने उनसे कहा, "अगले वर्ष उत्तर-पश्चिम की ओर तीर्थ-दर्शन के लिए जाने की इच्छा है, तीर्थदर्शनोपरान्त पुरी लौट आने पर तुम वहाँ आकर मुझसे मिलना।"

इस प्रकार इस यात्रा में भी अपनी माता एवं भक्तों के साथ दस दिन महानन्द में बिताकर चैतन्यदेव पुरी जाने को प्रस्तुत हुए। अति शीघ्र पुरी पहुँचने की इच्छा से महाप्रभु ने अपने अन्य संगियों को बाद में आने की अनुमति

दी और दामोदर पण्डित व बलभद्र भट्टाचार्य के साथ वे पुरी की ओर चल पड़े। गौड़ीय भक्तों से वे कह गये थे, "इस बार रथयात्रा के समय आप लोग पुरी न आवें, क्योंकि वर्षा के बाद ही मेरी उत्तर-पश्चिम जाने की इच्छा है।" अद्वैताचार्य, नित्यानन्द प्रभु और श्रीवास आदि भक्तगण ने कुछ दूर तक साथ जाकर नेत्रों के जल से अपना वक्षस्थल भिगोते हुए अपने प्राणप्रिय को विदा किया।

(क्रमशः)

माँ के सान्निध्य में (३०)

स्वामी शान्तानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ सारदा देवी के शिष्य थे। मूल बँगला ग्रंथ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। –स.)

मैंने माँ से पूछा, "माँ, आध्यात्मिक जीवन कैसे बिताऊँ?"

माँ ने कहा, "जैसा कर रहे हो वैसा ही करते जाओ। उनसे व्याकुल होकर प्रार्थना करना तथा सर्वदा उनका स्मरण-मनन रखना।"

मैं—बड़े बड़े महापुरुषों का पतन देखकर भय होता है, माँ।

माँ—भोग्य वस्तुओं को लेकर रहने से भोग-वासनाएँ आ जुटती हैं। बेटा, अगर लकड़ी की भी स्त्री मूर्ति हो, तो उधर देखना नहीं, उधर से होकर जाना तक नहीं।

मैं—मनुष्य तो स्वयं कुछ नहीं कर सकता। वे ही तो सब करा रहे हैं।

माँ—ठीक है, वे ही सब करा रहे हैं, पर लोगों में क्या यह समझ रहती है? लोग अहंकार में चूर होकर यह सोचते हैं कि हम ही सब कुछ कर रहे हैं तथा भगवान पर निर्भर करने की कोई आवश्यकता नहीं। पर जो भगवान का आश्रय ग्रहण करता है, उसकी वे सभी आपदाओं से रक्षा करते हैं।

माँ किसी एक साधु को लक्ष्य करके फिर कहने लगी, "ठाकुर कहते थे, 'साधु सावधान!' साधु को हमेशा सावधान रहना होता है तथा उसे सब समय सावधान रहना चाहिए। साधु का रास्ता बड़ी फिसलन का है। फिसलन

भरे रास्ते पर चलते समय पैर जमाकर चलना पड़ता है। संन्यासी होना क्या सीधी बात है? साधु को स्त्रियों की ओर मुड़कर भी नहीं देखना चाहिए। साधु का गेरुआ वस्त्र कुत्ते के गले में बँधी पट्टी के समान उसकी रक्षा करता है। कुत्ते के गले में पट्टी रहने से लोग उसे मारते नहीं, यह समझ कर कि उसका कोई मालिक है। साधु का रास्ता मानो सदर रास्ता है। सभी उसके लिए मार्ग छोड़ देते है।

"खराब कार्यों की ओर मन हमेशा भागता है। अच्छा काम करने की इच्छा होने पर भी मन उस ओर जाना नहीं चाहता। मैं पहले तीन बजे रात में उठकर ध्यान करती थी। एक दिन शरीर स्वस्थ नहीं रहने के कारण मैंने आलस्यवश सबेरे ध्यान नहीं किया। इससे फिर ध्यान कई दिनों तक बंद हो गया। इसलिए अच्छा कार्य करने के लिए आतरिक प्रयास और लगन की आवश्यकता होती है। जब मैं नौबतखाने में रहती थी तो रात के समय गगा के स्थिर जल में चद्रमा का प्रतिबिम्ब देखकर मैं रो-रोकर भगवान से प्रार्थना करती थी कि चद्रमा में भी कलक है, पर मेरे मन में कोई दाग न रहे। नौबतखाने में रहते समय ठाकुर यहाँ तक कि रामलाल को भी पास आने से मना करते थे। रामलाल तो भतीजा है। अब तो सबके साथ बातें करती हूँ, सबके सामने निकलती हूँ।

"तुम तो कलकत्ते के लडके हो। इच्छा होने से विवाह करके सामाजिक जीवन बिता सकते थे, पर जब वह सब त्याग कर दिया है तो फिर उस ओर दृष्टि क्यों देते हो? थूक कर फिर वही थूक क्यों चाटना?"

मैंने पूछा—माँ, आसन-प्राणायाम करना क्या अच्छा है?

माँ—आसन-प्राणायाम करने से सिद्धाई होती है। सिद्धाई लोगों को पथभ्रष्ट करती है।

मैं—साधु का विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करना क्या अच्छा है?

माँ—मन यदि एक स्थान में शान्तिपूर्वक रहे तो फिर तीर्थाटन की क्या आवश्यकता?

मैं—माँ, ध्यान नहीं जमता। आप कुण्डलिनी जाग्रत कर दीजिए।

माँ—अवश्य जाग्रत होगी। थोड़ा ध्यान जप होने से ही जागेगी। वह क्या अपने आप जागती है? ध्यान जप करो। ध्यान करते करते मन ऐसा स्थिर हो जाएगा कि फिर ध्यान छोड़ने की इच्छा नहीं होगी। जिस दिन ध्यान न जमें, उस दिन जोर देकर ध्यान करने की आवश्यकता नहीं। उस दिन प्रणाम करके ही उठ जाना। जिस दिन मन ठीक होगा, ध्यान अपने आप ही जमेगा।

१९ जून, १९१२ ई.— उद्बोधन

मैं—माँ, मन स्थिर क्यों नहीं होता? जब भी भगवान का चिन्तन करता हूँ तो मन नाना विषयों में जाता है।

माँ—विषय कहने से—रुपया पैसा, पुत्र, परिवार इन सब विषयों में मन जाना खराब है। कर्त्तव्य कर्म के सबंध में तो मन जाएगा ही। ध्यान नहीं होने से जप करना—जपात् सिद्धिः। जप करने से ही सिद्धि प्राप्त होगी। ध्यान जमने से अच्छा है, यदि न जमें तो जोर करने की आवश्यकता नहीं।

नवम्बर-दिसम्बर, १९१२ — काशीधाम

मैंने माँ से पूछा—काशी में मठ में रहकर

साधन-भजन करना अच्छा है अथवा निर्जन स्थान में जाकर साधन-भजन करना अच्छा है?

माँ ने कहा—निर्जन में ऋषिकेश आदि स्थान में कुछ समय साधन-भजन में बिताकर मन के पक्के हो जाने पर, फिर मन को जहाँ कहीं रखोगे, चाहे जिसके साथ मिलोगे-जुलोगे, एक जैसे रहोगे। जब पौधा छोटा होता है तो उसके चारों ओर बेड़ा लगाना होता है। उसके बड़े होने पर फिर बकरी, गाय आदि उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकतीं। निर्जन में साधन-भजन करना बहुत आवश्यक है। जब मन में कोई विषय कामना जगे, तब एकान्त में रो-रोकर उनके निकट प्रार्थना करना। वे मन का सारा मैल, सारा कष्ट दूर कर देंगे और तुम्हें समझा देंगे।

मैं—मेरी तो साधन-भजन करने की शक्ति नहीं है। आपके चरण कमलों को पकड़ कर पड़ा हूँ, आप जो इच्छा हो, करिए।

माँ हाथ जोडकर ठाकुर से प्रार्थना करके कहने लगीं—ठाकुर तुम्हारे संन्यास की रक्षा करें। वे तुम्हारी देखभाल कर रहे हैं। तुम्हें डरने की क्या बात? ठाकुर का काम करना तथा साधन-भजन करना। थोड़ा बहुत काम करते रहने से फिर मन में व्यर्थ के विचार नहीं उठते। चुपचाप बैठे रहने से मन में तरह तरह के विचार उठते रहते हैं।

जनवरी-फरवरी, १९१२—काशीधाम

मैं—साधन-भजन किस प्रकार और कैसे स्थान में जाकर करना चाहिए?

माँ—काशी तुम्हारा स्थान है। साधन का अर्थ है उनके

पादपद्मों में मन को हमेशा रखते हुए उनके ध्यान में मन को डुबाकर रखना, उनका नाम जप करना।

मैं—अनुराग नहीं होने से केवल नाम जप करने से क्या होगा?

माँ—पानी में चाहे तुम इच्छा करके उतरो अथवा कोई तुम्हें धक्का देकर उसमें गिरा दे, तुम्हारे कपड़े तो भीगेंगे ही। रोज ध्यान करना। मन अभी कच्चा है न? ध्यान करते करते मन स्थिर हो जाएगा। सर्वदा विचार करना। जिस वस्तु के पीछे मन दौड़ता है, उसे अनित्य समझकर मन को भगवान के प्रति समर्पित करना। एक व्यक्ति मछली पकड़ रहा था। उसके पास से बाजे-गाजे के साथ एक बारात निकली। पर उसकी दृष्टि बसी के डोरी में बँधे टुकड़े पर केन्द्रित थी, इसलिए उसे बारात के गुजरने का पता ही नहीं चला।

मैं—जीवन का उद्देश्य क्या है?

माँ—भगवान को प्राप्त करना तथा उनके पादपद्मों में हमेशा मग्न होकर रहना। तुम लोग संन्यासी हो, उनके अपने हो। तुम्हारा इहलोक, परलोक वे ही देख रहे हैं। तुम लोगों को चिन्ता किस बात की? क्या सभी समय भगवान का चिन्तन-मनन हो सकता है? इसलिए कभी घूमोगे, फिरोगे, कभी उनका चिन्तन करोगे।

१८ पौष, गुरुवार—काशीधाम

माँ—साधु में राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। साधु के लिए आवश्यक है कि सब सहन करें। ठाकुर हृदय से कहते थे, 'तू मेरी बात को सहना, मैं तेरी बात को सहूँगा। तभी ठीक होगा नहीं तो निपटारे के लिए खजाची को बुलाना पड़ेगा।'

२३ पौष, मंगलवार—काशीधाम

माँ—ठाकुर मुझसे कहते थे, 'थोड़ा बहुत टहलना। नहीं तो शरीर अस्वस्थ हो जायेगा।' तब मैं नौबतखाने में रहती थी। सबेरे चार बजे गंगा स्नान करके कमरे में चली जाती थी। एक दिन ठाकुर ने मुझसे कहा, "आज एक भैरवी आएगी, उसके लिए एक कपड़ा रँग करके रखना। उसे देना होगा।' उसी दिन काली मंदिर के भोग के बाद वह भैरवी आयी। ठाकुर उसके साथ विभिन्न विषयों पर बातें करने लगे। भैरवी का दिमाग जरा गरम था। वह सब समय मुझ पर अधिकार जताती रहती थी। कभी कभी मुझसे कहती थी, 'तू मेरे लिए नरम भात रखना। नहीं तो मैं तुझे त्रिशूल से मार डालूँगी।' सुनकर मुझे डर लगता था। ठाकुर कहते थे, 'तुम्हें डरने की कोई बात नहीं। वह ठीक ठीक भैरवी है, इसीलिए दिमाग थोड़ा गरम है।' कभी कभी वह इतनी भिक्षा ले आती थी कि वह सात-आठ दिनों तक चलता। खजाची उसको कहते थे, 'माँ, तुम भिक्षा के लिए बाहर क्यों जाती हो, यहीं से तो ले सकती हो?' वह कहती, 'तू मेरा कालनेमि मामा है, तेरी बात का क्या भरोसा।'

"साधनावस्था में ठाकुर प्रलोभन की तरह तरह की वस्तुएँ उपस्थित देखकर भयभीत हो जाते थे। प्रलोभन की इन सब चीजों से उन्हें वितृष्णा थी। एक दिन पञ्चवटी में उन्होंने अचानक देखा कि एक बालक उनके पास चला आ रहा है। उन्होंने सोचा, 'यह क्या हो गया?' तब माँ ने उन्हें समझा दिया कि उनके मानसपुत्र के रूप में व्रज का राखाल आएगा। बाद में जब राखाल आया तो ठाकुर ने कहा, 'यह मेरा वही राखाल आया है। बोलो तो सही तुम्हारा नाम क्या है?' उसने कहा, 'राखाल।' ठाकुर ने कहा, 'ठीक,

ठीक।' ठाकुर ने जैसा पंचवटी में देखा था, ठीक वैसा ही था।'

"ठाकुर को हाजरा ने कहा था, 'आप नरेन्द्र, राखाल इन सबके लिए इतनी चिन्ता क्यों करते है? हमेशा ईश्वर के भाव में रहिये न।' ठाकुर ने कहा, 'यह देख कैसे ईश्वर के भाव में रहता हूँ।' यह कहते ही उनको समाधि हो गयी। दाढ़ी तथा सिर के बाल, रोम आदि सब खड़े हो गये। इसी अवस्था में वे घंटे भर रहे। रामलाल तब उन्हें विभिन्न देवताओं का नाम सुनाने लगा। नाम सुनाते सुनाते तब उनकी संज्ञा लौटी। समाधि भंग होने के बाद उन्होंने रामलाल से कहा, 'देखा, ईश्वर के भाव में रहने से कैसी अवस्था होती है? इसीलिए नरेन्द्र आदि को लेकर मन को नीचे उतारकर रखता हूँ।' रामलाल ने कहा, 'नहीं, आप अपने ही भाव में रहिए।'

मैं—मैं प्राणायाम का थोड़ा अभ्यास करता हूँ। करूँ या नहीं?

माँ—थोड़ा-बहुत कर सकते हो। पर अधिक करके दिमाग गरम करना उचित नहीं। मन यदि अपने आप स्थिर हो जाय तो फिर प्राणायाम की क्या आवश्यकता?

मैं—कुण्डलिनी के न जागने से कुछ भी नही हुआ।

माँ—अवश्य जागेगी। उनका नाम जपते रहने से सब हो जायेगा। मन के स्थिर न होने पर भी तो बैठे-बैठे उनके नाम का लाखों जप किया जा सकता है। कुण्डलिनी जागने के पहले अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है। माँ जगदम्बा की कृपा न होने से यह नही होता।

माँ ने फिर कहा—रात के अन्तिम प्रहर में मैं मन ही मन सोच रही थी कि बाबा विश्वनाथ का और दर्शन नही

कर पाऊँगी। विश्वनाथ शिवलिंग छोटे से हैं तथा पानी और बिल्व पत्रों में डूबे रहने से वे दिखायी नहीं देते। यही सब सोच रही थी कि अचानक देखती हूँ एकदम काले पत्थर के विश्वनाथ शिवलिंग! उनके सिर पर नटी की माँ हाथ फेर रही थी। मैंने भी तुरन्त जाकर उनके सिर पर हाथ फेरा।

मैं—माँ, मुझे अब पत्थर के शिवलिंग अच्छे नहीं लगते।

माँ—यह क्या बेटा! कितने बड़े बड़े पापी लोग काशी आते हैं तथा विश्वनाथ का स्पर्श कर मुक्त हो जाते हैं। वे सबके पाप निर्विकार भाव से ग्रहण करते रहते हैं। शनिवार, रविवार को जब सब लोग आकर मुझे प्रणाम करते हैं तब पैर एकदम जलने लगते हैं। पैर धोने के बाद ही आकर बैठ पाती हूँ।

मैं—यदि वे सभी के माँ-बाप है, तो फिर वे पाप क्यों करते हैं?

माँ—वे जीव-जन्तु सब कुछ हुए हैं, यह ठीक है, किन्तु संस्कार और कर्म के अनुसार सभी को अपने अपने कर्मों का भोग करना पड़ता है। सूर्य एक है, किन्तु स्थान और पदार्थ भेद से उसका प्रकाश अलग-अलग होता है।

१ जनवरी, १९१७

मैंने कहा—माँ, ऐसा आशीर्वाद दीजिए, जिससे मेरा ध्यान अच्छा हो और मैं उसमें डूब सकूँ।

माँ सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद करने लगीं और बोलीं—हमेशा सत्-असत् का विचार करना।

मैं—माँ, बैठे-बैठे मैं विचार कर सकता हूँ, किन्तु काम करते समय चिन्तन नहीं होता। तब मन न जाने कहाँ उड़ा

ले जाता है! शक्ति दीजिए जिससे उस समय ठीक रह सकूँ।

माँ—बेटा, ठाकुर तुम्हारी रक्षा करेंगे।

फिर वे बोली—तुम्हें ज्ञान चैतन्य हो। एक सन्यासी को उन्होंने कहा—तुम लोग सन्यासी हो, तुम लोगों का गृहस्थों के साथ सम्बन्ध रखना खराब है। विषयी लोगों की हवा लगना भी हानिकारक है।

२७ मई, १९१९—कोयाल पाड़ा

मैं—माँ, इतने दिन बीत गए! पर क्या हुआ?

माँ—उन्होंने संसार के सब झझटों से हटाकर अपने पादपद्मों में रखा है, यही क्या कम भाग्य की बात है? योगीन (स्वामी योगानन्द) कहता था, "जप-ध्यान करूँ या न करूँ, ससार के झझटों से तो मुक्त हूँ।' देखो न, राधू को लेकर मैं माया में कितना कष्ट भोग रही हूँ!

मैंने पूछा—किसी निर्जन बगीचे में जाकर मेरी कुछ दिन साधना करने की इच्छा है।

माँ—साधना करने का यही तो समय है। इसी उम्र में करना चाहिए। अवश्य करो। किन्तु खाने-पीने के बारे में ध्यान देना। योगीन (स्वामी योगानन्द) को कठोर तपस्या के कारण अन्त में अत्यन्त कष्ट पाकर देहत्याग करना पड़ा।

२९ मई, १९१९—कोयाल पाड़ा

मैं—...बाबू अब मठ में नहीं आते। आपके घर भी नहीं आते। उनका इस प्रकार क्यों हुआ?

माँ—हाँ जब मैं कलकत्ते में थी, तब भी मेरे पास वह नहीं आता था।

मैं—इतने दिनों के पुराने भक्त, ऐसा क्यों हुआ?

माँ—सब कर्मफल की बात है। अनेक जन्मों का कर्म संचित था, जिसके फलस्वरूप वह अन्त में रह नहीं पाया। पूर्व कर्मों की जो सब लहरें हैं वे जब समाप्त होंगी, तभी तो वह एक जन्म में मुक्तिलाभ करेगा।

मैं—यदि उनकी इच्छा से सब हो रहा है तब वे इन कर्मों का नाश क्यों नहीं कर देते?

माँ—उनकी इच्छा से वे सब काट सकते हैं। पर देखो न, कर्म का फल उन्हें भी भोग करना पड़ा था। ठाकुर के बड़े भाई (रामकुमार) सन्निपात की अवस्था में पानी पी रहे थे तो ठाकुर ने उनके हाथ से ग्लास खींच लिया था, इससे असन्तुष्ट होकर उन्होंने कहा—'तूने जिस प्रकार मुझे पानी पीने नही दिया, अन्त समय में तू भी इसी प्रकार कुछ खा-पी नहीं सकेगा।' ठाकुर ने कहा, 'दादा, मैं तो तुम्हारे भले के लिए कर रहा था, किन्तु तुमने मुझे शाप दिया'। इससे वे रोते हुए कहने लगे, 'भाई, क्यों मेरे मुँह से ऐसी बात निकल गयी, मैं नहीं जानता।' देखो, बीमारी के समय उन्हें भी कर्मफल भोग करना पड़ा। कोई भी वस्तु वे खा नहीं सकते थे। इसका भी अनेक जन्मों के संस्कार के फलस्वरूप ऐसा हुआ है। देखो न, अ ..का क्या हुआ? कहा से क्या हो जाना है, यह समझ पाना कठिन है।

४ जून १९१९—कोयाल पाड़ा

मैं—माँ, क्या गिनकर जप करना चाहिए?

माँ—गिनते हुए जप करने से गिनती की ओर दृष्टि रहती है। ऐसे ही जप करना।

मैं—जप करते-करते मन उनमें डूबता क्यों नही?

माँ—जप करते रहने से होगा। मन स्थिर न होने से भी जप करना छोड़ना नहीं। अपना काम तुम किए जाओ। नाम जपने से मन अपने आप स्थिर होगा—वायुरहित स्थान में दीपशिखा की भाँति। वायु रहने से दीपशिखा स्थिर नहीं रह पाती है। मन में भी कामना-वासना रहने से मन स्थिर नहीं होता। मंत्र का ठीक ठीक उच्चारण न होने से फललाभ में देरी होती है। एक स्त्री का मंत्र था, 'रुक्मिणी नाथाय'। वह 'रुकु' 'रुकु' बोलकर जप करती थी। इसके कारण उसकी प्रगति कुछ दिन रुद्ध हो गयी थी। बाद में ईश्वर की कृपा से उसने ठीक मंत्र पाया।

१२ जून, १९१९—कोया लपाड़ा

मैं—कुछ दिनों से मैं आसन का अभ्यास कर रहा हूँ शरीर को स्वस्थ रखने के लिए। इस आसन के अभ्यास से हाजमा ठीक रहता है तथा ब्रह्मचर्य पालन में सहायता मिलती है।

माँ—इससे बाद में शरीर के प्रति मन आसक्त होता है। तथा इसे छोड देने पर शरीर अस्वस्थ हो जाता है, यह सब समझते हुए इसे करना।

मैं—मैं पाँच-दस मिनट करता हूँ, हाजमा ठीक रखने के लिए।

माँ—ठीक है करना, कोई भी व्यायाम करके छोड देने से शरीर खराब हो जाता है, इसीलिए कह रही थी। बेटा, आशीर्वाद देती हूँ, 'तुम्हें चैतन्य हो'।

प्राध्यापक मैक्समूलर

स्वामी विदेहात्मानन्द

११ सितम्बर, १८९३ ई. को अमेरिका के शिकागो नगर में विश्व धर्म-सम्मेलन का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में भाग लेने के निमित्त पृथ्वी के कोने-कोने से प्रत्येक धर्म के सर्वश्रेष्ठ वक्ता वहाँ पधारे हुए थे। परन्तु सनातन हिन्दूधर्म के युवा प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही उसमें सर्वाधिक सफल हुए थे। सभा में प्रदत्त उनके संक्षिप्त व्याख्यान ने ही सम्पूर्ण विश्व में उनकी कीर्ति वैजयंती लहरा दी। संवादपत्रों में स्वामीजी के चित्र देख तथा उनके व्याख्यानों के विवरण पढ़कर अमेरिका की सारी जनता उन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखने व सुनने को उत्सुक हो उठी। विश्व के सभी धर्मों, राष्ट्रों, जातियों, समाजों व व्यक्तियों के बीच फैली भेद-भाव की खाई को पाटने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में स्वामीजी वेदान्त का प्रचार करने लगे। भारतीय विचारों के पश्चिम में प्रचार-प्रसार का अच्छा अवसर देखकर आगामी ३-४ वर्षों तक वे वहीं ठहर गये तथा अमेरिका के सभी प्रमुख नगरों में व्याख्यान देते हुए भ्रमण करते रहे। बीच बीच में वे यूरोप और विशेषकर इंग्लैण्ड जाकर भी अपने वेदान्त-प्रचार का अभियान चलाया करते थे। स्वामीजी ने इसी सिलसिले में कई बार लन्दन में पदार्पण किया था।

प्रोफेसर मैक्समूलर से मिलने की घटना स्वामीजी के द्वितीय लन्दन प्रवास के समय हुई। प्रोफेसर उन दिनों ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय विषयों के परामर्शदाता थे। भारतवर्ष के प्रति उनकी श्रद्धा असीम थी।

उन्होंने आंग्लभाषा में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का अनुवाद कर प्रकाशित कराया था, जिसके फलस्वरूप वे विश्व भर में विशेष सम्मानित हुए थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने ५० खण्डों में प्रकाशित Sacred Books of the East (प्राची के पवित्र ग्रन्थ) के कई खण्डों का अनुवाद तथा पूरी ग्रन्थमाला का सम्पादन किया था। वे समकालीन भारत में चल रहे आध्यात्मिक तथा समाज-सुधार-आन्दोलनों में भी गहरी रुचि लेते थे। ब्राह्मसमाज के प्रख्यात नेता केशवचन्द्र सेन उनके मित्रों में से एक थे। केशव बाबू की विचारधारा में आये हुए अचानक परिवर्तन के कारण ढूँढते हुए उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के महत्त्व का भान हुआ। परमहंसदेव के प्रति वे इतने आकृष्ट हो गये थे कि उनके सम्बन्ध में उन्हें जो भी सामग्री मिलती, उसका वे अत्यन्त उत्सुकता व श्रद्धापूर्वक पारायण किया करते थे।

जिस वेदान्त का सम्पूर्ण जगत् में प्रचार करना स्वामी विवेकानन्द का जीवनव्रत था, प्रो. मैक्समूलर उसी वेदान्त के अध्ययन में दशकों से डूबे हुए थे। उन्होंने भारतीय दर्शन पर अनेक व्याख्यान दिये थे तथा कई ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था। अतः स्वामी विवेकानन्द की ऐसे ख्यातिलब्ध विद्वान में रुचि स्वाभाविक ही थी। विद्वान प्राध्यापक की वेदान्त व्याख्या परम्परागत न थी, अतः स्वामीजी उनके सारे विचारों से सहमत न थे। मार्च, १८९४ ई. में प्रोफेसर मैक्समूलर ने रायल इन्स्टीट्यूशन में 'वेदान्त-दर्शन' पर तीन व्याख्यान दिये थे, जो बाद में एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। स्वामीजी उसे पढ़कर प्रोफेसर की विचारधारा में वेदान्त-दर्शन के पक्ष में सकारात्मक परिवर्तन देखकर विस्मित रह गये थे। प्रोफेसर से मिलने के

एक वर्ष पूर्व ही ५ मई, १९९५ ई. को वे हेल बहनों के नाम अपने पत्र में लिखते हैं—

"प्रिय बच्चियो, वही हुआ जिसकी मुझे आशा थी। यद्यपि प्रो. मैक्समूलर ने हिन्दूधर्म सम्बन्धी अपनी सभी रचनाओं के अन्त में अनादरसूचक मन्तव्य प्रकट किये हैं, पर मुझे सदा से ही यह उम्मीद रही है कि आगे चलकर उन्हें अवश्य ही पूर्ण सत्य के दर्शन होंगे। जितना शीघ्र हो सके 'वेदान्त-दर्शन' नाम की उनकी नवीनतम पुस्तक प्राप्त कर लो; उसमें तुम देखोगी कि उन्होंने पुनर्जन्मवाद आदि सब कुछ हजम कर लिया है। उसमें कई स्थलों पर तुम्हें मेरे शिकागो के निबन्ध की भी झलक मिलेगी। मुझे प्रसन्नता है कि उन वृद्ध पुरुष को सत्य के दर्शन हो गये हैं, क्योंकि विज्ञान व शोध के आधुनिक युग में धर्म की उपलब्धि का एकमेव मार्ग यही है।" पुनः वे २६ जून को लिखते हैं— "आत्मा के अमरत्व पर प्रो. मैक्समूलर के निबन्धों का, जिन्हें मैंने मदर-चर्च के पास भेजा था, तुम आनन्द ले रही होगी। उस वृद्ध आदमी ने वेदान्त की प्रायः सभी प्रमुख बातों पर विचार किया है और साहसपूर्वक सामने आया है।" इस प्रकार हमने देखा कि स्वामीजी के वेदान्त तथा हिन्दूधर्म के प्रचार के बाद प्रो. मैक्समूलर की विचारधारा में काफी परिवर्तन आया और स्वामीजी ने इसे लक्ष्य कर प्रसन्नता व्यक्त की। इसके कुछ ही महीनों बाद स्वामीजी की इच्छा तथा निर्देशानुसार उनके मद्रासी शिष्यों तथा मित्रों ने मिलकर नववेदान्त के प्रचारार्थ एक पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। 'ब्रह्मवादिन्' का प्रवेशांक १४ सितम्बर १९८५ ई. को निकला। प्रोफेसर मैक्समूलर इसे

अत्यन्त मनोयोग के साथ पढ़ा करते थे तथा यदाकदा अपने सुझाव भी भेजा करते थे।

इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी के मन में भी काफी दिनों से प्रोफेसर से मिलने की इच्छा थी। अतः लन्दन में आने पर जब उन्हें प्रोफेसर का आमन्त्रण मिला तो उन्होंने उसे अत्यन्त आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। २८ मई, १८९६ ई. को वे अपने एक अंग्रेज शिष्य श्री ई.टी स्टर्डी के साथ उनसे मिलने गये। सुन्दर उद्यान के बीच अवस्थित एक मनोरम-गृह में प्राध्यापक ने अपनी शीलवती पत्नी के साथ उनका स्वागत किया। स्वामीजी को ऐसा लगा मानो महर्षि वशिष्ठ व अरुन्धती ही उनसे मिलने को खड़े हों।

सौहार्द्रपूर्ण स्वागत के पश्चात् चाय-पान और तदुपरान्त वार्तालाप का दौर चला। स्वामीजी ने ऋग्वेद पर किये गये उनके कार्यों की सराहना की तथा आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि वे इतना कठिन व बृहत् कार्य कैसे पूरा कर सके? प्रोफेसर ने उन्हें बताया कि सायण भाष्य का अनुवाद करते समय उसके किसी किसी शब्द या वाक्य का यथार्थ ढंग से पाठ करने का ढंग तथा अर्थ ढूँढ़ निकालने के लिए कभी दिन पर दिन तो कभी महीनों निकल जाया करते थे, फिर भी उन्होंने साहस न छोड़ा। (इस अनुवाद में उनके जीवन के प्रायः ४५ वर्ष व्यय हुए थे)।

भारतीय स्थापत्य कला पर भी उनके बीच बातचीत हुई। प्रोफेसर का मत था कि बौद्ध स्थापत्य तथा मूर्तिकला का यूनानी कला के साथ थोड़ा साम्य दीख पड़ता है, और उन दिनों यूनान का भारत के साथ सम्पर्क था, अतः इस आधार पर कहा जा सकता है कि यह भारतीय कला पर

यूनानी प्रभाव का द्योतक है। स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि यदि यूनानियों की उपस्थिति मात्र को ही भारतीय स्थापत्य कला पर उनके प्रभाव का एकमात्र प्रमाण मान लिया जाय, तो फिर उसी युक्ति का उलटा प्रयोग करके यह कहा जा सकता है कि यूनानी शिल्पकला भारत का ऋणी है। बौद्धयुग के भारतीय तथा यूनानी मूर्तिकला में कोई सादृश्य नहीं दीख पड़ता। यूनानी लोग बाह्य वस्तुओं के रूपाकन में दक्ष हैं, जबकि भारतीय मूर्तिकला अन्तःप्रकृति को व्यक्त करने की इच्छुक है— यहाँ तक कि वह इसके लिए वास्तविकता का भी त्याग करने को प्रस्तुत है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय स्थापत्य शिल्प यूनान की तुलना में काफी उन्नत है, क्योंकि भारतीय कला सर्वदा ही एक भाव को व्यक्त करने का प्रयास करती है, जबकि यूनानी कला में ऐसा नहीं हैं।

'श्रीरामकृष्ण परमहंस' उनके बीच चर्चा का एक प्रमुख विषय रहे। प्रोफेसर ने स्वामीजी को बताया कि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन व उपदेशों पर एक लेख लिखा है, जो अंग्रेजी भाषा की प्रमुख मासिक पत्रिका 'नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' में A Real Mahatman (एक यथार्थ महात्मा) शीर्षक के साथ प्रकाशित होनेवाली है। यह जानकर कि प्रोफेसर ने युगावतार श्रीरामकृष्ण का वास्तविक महत्त्व समझ लिया है, स्वामीजी ने कहा— "प्रोफेसर! आजकल सहस्त्रों लोग श्रीरामकृष्ण की पूजा कर रहे हैं।" आनन्दविभोर प्रोफेसर का उत्तर था— "यदि लोग ऐसे व्यक्ति की पूजा नहीं करेंगे, तो किसकी करेंगे?" फिर पूछा— "विश्व को उनसे परिचित कराने के लिये आपलोग क्या कर रहे है?" स्वामीजी से उनकी वेदान्त-प्रचार की

योजनाएँ सुनने के बाद उन्होंने उसमें अपना हार्दिक सहयोग देने का वचन दिया। उन्होंने यह भी कहा कि यदि उन्हें श्रीरामकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित यथेष्ट सामग्री उपलब्ध करायी गयी तो वे एक ग्रन्थ की रचना करेंगे। स्वामीजी ने कहा कि वे उपयुक्त सामग्री का संकलन कर उन्हें भेज देंगे।

जर्मन प्राध्यापक के मुख से उनके भारत प्रेम की कथा सुनकर देशभक्त, संन्यासी मुग्ध होकर सोचने लगे— "अहा! मेरा अनुराग यदि उनके शतांश भी होता, तो मैं अपने को धन्य मानता।" स्वामीजी ने पूछा — "आप भारत कब आ रहे हैं? भारतवासियों के पूर्वजों की चिन्तनराशि को आपने यथार्थ रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट किया है, अत: वहाँ का प्रत्येक हृदय आपका स्वागत करेगा।" भारतभूमि में जाने की कल्पनामात्र से ही ऋषितुल्य वृद्ध प्राध्यापक का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और आँखें नम हो गयी। भाव का आवेग सम्भालते हुए उन्होंने रुद्धकण्ठ से कहा— "तब तो मैं वापस न आ सकूँगा, आप लोगों को वहीं मेरा दाह संस्कार कर देना होगा।"

अत्यन्त प्रीति के साथ उन्होंने स्वामीजी तथा श्रीयुत स्टर्डी को भोजन कराया। तदुपरान्त वे उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कुछ कॉलेज तथा बोडलियन पुस्तकालय दिखाने को ले गये। फिर आँधी-पानी के बावजूद वे अपने अतिथि-मित्रों को विदा करने रेलवे स्टेशन तक आये। स्वामीजी ने सकोचपूर्वक कहा— "आप हमारे आराम तथा सुख-सुविधा के लिए इतना सब क्यों कर रहे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया— "श्रीरामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य के साथ हमारी भेंट प्रतिदिन तो नहीं होती।" प्रोफेसर मैक्समूलर के

साथ अपने इस साक्षात्कार का विवरण स्वामीजी ने 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका में प्रकाशित कराया था।

●

स्वामीजी के एक अन्य गुरुभाई स्वामी सारदानन्द उन दिनों उनकी सहायता करने को लन्दन आये हुए थे। प्राध्यापक से मिलकर लौटने के पश्चात् स्वामीजी ने प्रस्तावित ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाने का भार उन्हीं को सौंपा। उन्हीं के शब्दों में—"मैंने काफी परिश्रमपूर्वक ठाकुर के जीवन की सारी घटनाओं तथा उनके उपदेशों का सग्रह किया तथा पाण्डुलिपि स्वामीजी को दिखाई। मैंने सोचा था कि वे उसमें काफी सम्पादन व संशोधन करेंगे, परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया, सिर्फ अतिशयोक्ति के भय से यत्र-तत्र एकाध शब्द बदल दिये तथा पाण्डुलिपि उनके पास भेज दी।" फिर २४ जून को स्वामीजी ने अतिरिक्त सामग्री एकत्र करने का अनुरोध करते हुए स्वामी रामकृष्णानन्द को भी एक पत्र में लिखा—"श्री रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में मैक्समूलर का लेख आगामी माह प्रकाशित होगा। वे उनकी एक जीवनी लिखने को राजी हुए हैं, श्री रामकृष्णदेव की समस्त वाणियों को वे चाहते है। उनकी सारी उक्तियों को क्रमबद्ध रूप मे लिख भेजो—अर्थात् कर्म सम्बन्धी उक्तियों को पृथक् रूप मे तथा वैराग्य, ज्ञान, भक्ति आदि का सकलन पृथक् पृथक् हो। तुम्हें इस कार्य को अभी प्रारम्भ करना होगा। जो बातें अग्रेजी में अप्रचलित हों, सिर्फ उन्हीं को लिखने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिपूर्वक उन स्थलों पर यथासम्भव अन्य वाक्यों का प्रयोग करना। 'कामिनी काचन' के स्थान पर 'काम-काचन' (lust and gold)

लिखना—अर्थात् उनके उपदेशों से सार्वजनिक भाव व्यक्त होने चाहिए। तुम इस कार्य को पूरा कर, उनकी सारी उक्तियों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा वर्गीकरण कर 'प्रोफेसर मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, इंग्लैंड—इस पते पर भेज देना।''

मई और जून का महीना लन्दन में बिताकर जुलाई के अन्त में स्वामीजी स्विट्जरलैण्ड का भ्रमण करने को गये। प्रो. मैक्समूलर का २ अगस्त का पत्र उन्हें वहीं प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार है—

''प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि मेरा लेख आखिरकार नाइन्टीन्थ सेन्चुरी के अगस्त अंक में प्रकाशित हो गया है। मैंने जो कुछ लिखा है उससे क्या आप पूर्णतया सहमत हैं?—मुझे यह जानकर खुशी होगी। मुझे आशा है कि इसका इंग्लैंड तथा अन्य देशों में भी अच्छा प्रभाव होगा, क्योंकि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी काफी लोगों द्वारा पढ़ी जाती है।

मैं आपकी तथा मि. स्टर्डी की योजनाओं से परिचित होना चाहता हूँ। आपने उन महिला का नाम सुना होगा जो इंग्लैंड में वेदान्त की एक पत्रिका के लिये १००० पौण्ड देने को राजी हैं। मैंने उनको लिखा कि मैं आनन्दपूर्वक सहयोग करूँगा, परन्तु एक नयी पत्रिका को चलाने तथा प्रभावी बनाने के लिए और भी धन की आवश्यकता होगी। दूसरी पत्रिकावाले जो पारिश्रमिक देते हैं, उतना पारिश्रमिक दिये बिना आपकी पसन्द के लेखक न मिलेंगे और इस पर भी वे आपके लिये लिखकर एहसान ही करेंगे, क्योंकि पुरानी पत्रिकाओं में उनके लेख अधिक लोगों द्वारा पढ़े जाते हैं।

ऐसा लगता है मानो कल ही ऑक्सफोर्ड में मेरी आपके साथ मुलाकात हुई और आज ही विवरण इंग्लैंड से मद्रास जाकर, वहाँ छपकर, इंग्लैंड वापस आकर मेरे सामने हो। सौ वर्ष पूर्व भला कौन इसकी कल्पना कर सकता था! आपने उसमें मेरे प्रति जो सहृदयतापूर्ण बातें लिखी हैं, उनके लिए धन्यवाद। कामना होती है कि मेरी उम्र थोड़ी कम होती तथा मैं आपकी और भी सहायता कर पाता।...

मेरी राय मे श्रीरामकृष्ण के बारे में और भी विस्तार से लिखना उपयोगी होगा, परन्तु यदि यथेष्ट सामग्री प्राप्त हो। फिर हम लोगों की तथा भारतवासियों की जिन चीजों में रुचि है, अंग्रेज लोगों की उनमें न होगी। अतः श्रीरामकृष्ण की उक्तियों में भी थोड़ा संशोधन करना होगा, ताकि यूरोपीय भावनाओं को आघात न लगे।...

आपका विश्वस्त,
फ़ै. मैक्समूलर"

स्वामीजी का उत्तर मिलने के पश्चात् प्रोफेसर ने अपने अगले पत्र मे उन्हें लिखा था कि यदि वे ऑक्सफोर्ड में भाषण करने जायें तो वे अपनी शक्तिभर सारा प्रबन्ध करेंगे। अगस्त में अन्तिम सप्ताह में स्वामीजी आलासिंगा को लिखते हैं—"मैक्समूलर के साथ गाढ़ी मित्रता हो रही है। मैं शीघ्र ही ऑक्सफोर्ड में दो व्याख्यान देने वाला हूँ।" परन्तु वे व्याख्यान किसी कारणवश टलते गये।

अक्टूबर के प्रारम्भ में स्वामीजी की सहायता करने को उनके एक अन्य गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द भी लन्दन आ पहुँचे। स्वामीजी उन्हें प्रोफेसर मैक्समूलर के साथ परिचय कराने को ले गये। स्वामी अभेदानन्द लिखते हैं—"मैंने उनके साथ संस्कृत मे वार्तालाप किया परन्तु वे न तो संस्कृत बोल

ही पाते थे और न बोली हुई संस्कृत समझ पाते थे। उन्होंने बताया कि उनके कान व जिह्वा संस्कृत ध्वनियों से अपरिचित हैं, अतः मैंने उनके साथ आंग्लभाषा में ही विचारों का आदान-प्रदान किया। श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों के बारे में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने कहा था, 'श्रीरामकृष्ण एक मौलिक विचारक थे, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा किसी विश्वविद्यालय की परिधि में नहीं हुई थी, और यही कारण है कि उनके उपदेशों में नवीनता व मौलिकता है'।" सम्भवतः इस बार पुनः प्रोफेसर ने स्वामीजी से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने का अनुरोध किया था और स्वामीजी ने उनसे उक्त सभा की अध्यक्षता करने का अनुरोध किया, परन्तु मि. स्टर्डी के नाम प्रोफेसर के २८ नवम्बर के पत्र से ऐसा लगता है कि वे व्याख्यान तब तक भी न हो सके थे। उनका वह पत्र इस प्रकार था—

"प्रिय मि. स्टर्डी,

क्या विवेकानन्द अब भी इंग्लैंड में है? यदि हों तो क्या आप उन्हें बता देंगे कि मुझे स्वामी रामकृष्णानन्द, आलमबाजार से श्रीरामकृष्ण की उक्तियों का एक संकलन प्राप्त हुआ है। क्या ये वे ही हैं जो ब्रह्मवादिन् में प्रकाशित हो चुकी हैं? मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या इन सूत्र रूप उक्तियों के अतिरिक्त और भी बड़ी उक्तियाँ हैं?

क्या विवेकानन्द ने ऑक्सफोर्ड में व्याख्यान देने का विचार त्याग दिया है? मुझे खेद है कि मैं मैनचेस्टर कॉलेज में अध्यक्षता करने को सहमत नहीं हुआ। ऑक्सफोर्ड के अपने पिछले ५० वर्षों के जीवन में मैंने कभी ऐसी अध्यक्षता नहीं की और दूसरों को नाराज किये बिना ऐसा सम्भव भी

नहीं है। प्रत्येक कॉलेज का प्रधानाचार्य ही उस कॉलेज की सभा की अध्यक्षता करने के लिये उपयुक्त है।

आपका ही
फै. मैक्समूलर"

दिसम्बर में ही प्रोफेसर ने मि. स्टर्डी को कुछ और भी पत्र लिखे थे, जिनमें से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—"यदि विवेकानन्द अब भी आपके साथ हों तो उन्हें मेरा धन्यवाद तथा शुभकामनाएँ कहें। अपने पौराणिक लेखन से थोड़ी फुरसत मिलने पर मुझे आशा है कि मैं वेदान्त में भी कुछ और कर सकूँगा। वे भारत में कार्य करें और हम लोग यूरोप में करेंगे। ठीक ठीक व्याख्या करने पर वेदान्त बहुतों के लिए मिलन-भूमि हो सकेगा। जगत् को शिक्षा की आवश्यकता है, अन्यथा गलतफहमी और अन्धविश्वास के अतिरिक्त हमारे हाथ और कुछ भी न आयेगा। मैंने श्रीरामकृष्ण की उक्तियों को सजाने का प्रयास किया है। आश्चर्य है कि किसने इन वाक्यों का संस्कृत में अनुवाद कर दिया है।... मुझे विश्वास है कि वे स्वयं ऐसा न कर पाते। मेरे ख्याल में विवेकानन्द ने स्वयं ही मुझसे ऐसा कहा था।... संस्कृत अनुवाद काफी अच्छे हैं।" यहाँ यह बता देना उचित होगा कि स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने स्वयं ही ठाकुर के कुछ उपदेशों का संस्कृत में पद्यानुवाद किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रोफेसर अत्यन्त मनोयोगपूर्वक श्रीरामकृष्ण की जीवनी के उपादान सग्रह तथा लेखन में व्यस्त थे।

१८९७ ई. के अन्त में ब्रह्मवादिन् के दो वर्ष पूरे हो जाने पर उसमें प्रकाशित लेखों का एक संकलन प्रकाशित करने की योजना बनी। प्रोफेसर से अनुरोध किये जाने पर उन्होंने प्रस्तावित ग्रन्थ के लिए एक प्रस्तावना भी लिख

भेजी थी। दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गया। उक्त प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था कि ब्रह्मवादिन् में प्रकाशित अधिकाश लेख, जो कि प्राचीन एव नव वेदान्त के विविध आयामों का प्रतिपादन करते हैं, उन्होंने पढे हैं; ये लेख वेदान्त के असाधारण शक्तिदायी विचारों को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करते हैं" आदि।

स्वामी विवेकानन्द एवं उनके गुरुभाइयों के द्वारा तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं से सकलित सामग्री का सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो १८ अक्टूबर १८९८ ई. में प्रकाशित हुई। कहना न होगा कि इस ग्रन्थ ने विश्व के अनेक आग्लभाषियों का ध्यान नव-वेदान्त आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। स्वामीजी ने इसकी एक लम्बी समीक्षा लिखी, जो 'उद्बोधन' में प्रकाशित होकर बाद में 'चिन्तनीय बातें' नाम पुस्तक में सकलित हुई। यह लेखन प्रोफेसर के जीवन का सम्भवत: अन्तिम महत्वपूर्ण कार्य था, क्योंकि इसके दो वर्ष बाद ही उन्होंने इहलोक से विदा ली।

स्वामी विवेकानन्द का मत था कि स्वय सायणाचार्य ने ही 'ऋग्वेद' पर किये हुए अपने भाष्य का उद्धार करने के निमित्त यूरोप में मैक्समूलर के रूप में पुन: जन्म लिया था। उनकी दृष्टि में वे वेदान्तियों में एक श्रेष्ठ वेदान्ती थे। एक ओर जहाँ उन्होंने अपने जीवन के उषाकाल में ही हिन्दुओं के प्राचीनतम धर्मग्रन्थ को अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग अर्पित किया वही अपने जीवन के साध्यकाल में उन्होंने नवयुग की वेदमूर्ति श्रीरामकृष्ण का विश्व से परिचय कराया। अपने 'ब्रह्मवादिन्' के सस्मरण में स्वामीजी ने

लिखा था—"जब मैं उनके उस महान् कार्य के बारे में सोचता हूँ जिसे उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ अपने यौवनावस्था में हाथों में लेकर वृद्धावस्था में उसकी सफलतापूर्वक परिसमाप्ति की, तो मैं दंग रह जाता हूँ।... इस सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि हमारे पूर्वजों के साहित्य की रक्षा, उसका विस्तार एवं उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए हम सबमें जो कोई जितना करने की आशा कर सकता है, इस अकेले व्यक्ति ने उससे सहस्रगुना अधिक किया है और यह कार्य उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्ण हृदय के साथ सम्पन्न किया है।"

●

युगावतार श्रीरामकृष्ण

स्वमी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पूना में स्थित रामकृष्ण मठ में श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व पर एक व्याख्यान दिया था। प्रस्तुत है उसी का अनुलिखन, जिसे टेप पर से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य कियाहै ब्र मोक्षचैतन्य ने, जो रामकृष्ण मठ, कामारपुकुर में सेवारत हैं। — स.)

जिन लोगों ने श्रीरामकृष्ण का जीवन चरित पढ़ा है, उन्हें यह ज्ञात होगा कि उनका विनयभाव उनके जीवन की एक प्रधान विशेषता थी। जब कोई उनसे कहता कि आप अवतार हैं तो वे हाथ जोड़कर कहते, "मुझे अवतार कहना उचित नहीं, मैं तो सबका दास हूँ।" एक बार उनको अवतार कहने वाले कुछ भक्तों के बारे में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "कोई डॉक्टर है, तो कोई थियेटर चलाता है और ये लोग मुझे अवतार कहते हैं। परन्तु अवतार शब्द का अर्थ ये भला क्या समझते है? कितने ही बडे-बड़े पंडितों ने मुझे अवतार कहा, लेकिन यह बात मुझे बिल्कुल भी पसन्द नही है।" उनके ऐसा कहने का क्या कारण है? आजकल तो अनेक अवतार प्रकट हो रहे हैं। इतने अवतारों के बीच यदि हम श्रीरामकृष्ण को भी एक अवतार कहें, तो इससे उनका कोई वैशिष्ट्य व्यक्त नहीं होता। अवतार कह डालने से ही हमारे मन में किसी विशेष तत्त्व की अभिव्यक्ति नही होती क्योंकि अवतार हमारी समझ के परे होते हैं। गीता में भगवान कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। (९/११)

मूढ़ जन उन मानवदेहधारी ईश्वर के स्वरूप को समझ नही

पाते। स्वरूप को समझकर यदि कोई कुछ कहे, तो उसका कुछ तात्पर्य है; परन्तु कुछ समझे बिना ही कोई अवतार कहे, तो उसका कोई अर्थ नहीं। अपने को ऐसा अवतार कहलाना श्रीरामकृष्ण कभी पसन्द नहीं करते थे। परन्तु उन्होंने अपने प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द से एक बार कहा था, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही इस बार रामकृष्ण के रूप में आये हैं और यह तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ।" इस वाणी का तात्पर्य हमें समझना चाहिए। वेदान्त की दृष्टि से तो सभी ब्रह्म हैं। अवतार ब्रह्म हैं और प्रत्येक मनुष्य भी ब्रह्म है। मनुष्य ही क्यों जीव-जन्तु वगैरह सब ब्रह्म हैं; जड़ वस्तुएँ भी ब्रह्म हैं। फिर इसमें विशेषता तो कुछ नहीं है। इस दृष्टि से जो श्री कृष्ण थे, जो रामचन्द्रजी थे वे ही इस बार रामकृष्ण के रूप में आये हैं – ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिए। तब कैसा अर्थ समझना चाहिए?

श्री कृष्ण एक व्यक्तित्व है, रामचन्द्र एक व्यक्तित्व है तथा वह एक खास तत्त्व है जिस तत्त्व से हम श्री राम एवं श्री कृष्ण को ईश्वरावतार समझते हैं, न कि सभी ब्रह्म हैं, इस दृष्टि से। जैसा कि भगवान गीता में कहते — परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् अर्थात् मेरा जो परम तत्त्व है 'भूतमहेश्वर', सभी प्राणियों के महान ईश्वर — नियन्ता, उसको नहीं समझते हैं। वे समझते हैं कि श्री कृष्ण वसुदेव के पुत्र हैं तथा रामचन्द्र को दशरथ का बेटा समझते हैं। भगवान जब अवतार लेते हैं तो उनमें एक खास व्यक्तित्व का प्रकाश होता है; एक विशेष तत्त्व का उपदेश देना उनके जीवन का उद्देश्य होता है और इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए भगवान विशेष रूप से एक-एक अवतार के रूप में आते

हैं। अवतार जीवन में उनकी कुछ विशेषता होती है। जैसा कि भगवान श्री कृष्ण के जीवन में हम देखते हैं अनासक्ति का भाव। वृन्दावन के जो कृष्ण हैं और मथुरा के जो कृष्ण हैं, दोनों में बाह्य दृष्टि से बहुत अन्तर है, परन्तु दोनों के भीतर एक ही व्यक्ति विराजित हैं, यह समझना बड़ा कठिन है। श्री कृष्ण वृन्दावन में भक्तिभाव का प्रकाश, प्रेमविलास दिखाते हैं, परन्तु मथुरा में उनका तात्पर्य दूसरा है, वहाँ पर वे जगत् के सभी मनुष्यों के लिए एक विराट् व्यक्तित्व प्रकट करते हैं। कितने राजा लोग थे, कितने ही सतगण भी थे, सबके आदर्श-पुरुष के रूप में भगवान ने वहाँ अपना चरित्र प्रकट किया। अपना परम भूतमहेश्वर स्वरूप — सर्वप्राणियों के नियन्ता परमेश्वर का जो रूप है, मानवदेह में होते हुए भी पूर्णतः अनासक्त स्वरूप दिखाया। देखिए वृन्दावन में श्रीकृष्ण ने गोप-गोपियों के साथ लीला की और फिर जब वे वृन्दावन लौटे ही नहीं। कितना घनिष्ठ सम्पर्क उनका गोप-गोपियों के साथ था, परन्तु सब छोडकर चले गये। फिर मथुरा में भी उनका वैसा ही व्यक्तित्व दीख पड़ता है। कभी भी उन्होंने स्वयं राज्य नहीं किया, राजा के रूप में अपने को कभी व्यक्त नहीं किया। जिस तरह ईश्वर अपने स्वरूप को छिपाकर सबका नियन्त्रण करते हैं उसी तरह भगवान कृष्ण भी अपने व्यक्तित्व को छुपा करके राज्य करते थे। फिर जब जरूरत पडी तो मथुरा से द्वारका चले गये और फिर मथुरा के ऊपर बिल्कुल आसक्ति नहीं रखी। उनके समय में यदुवश का काफी विस्तार हुआ, बहुत प्रभाव बढ़ा और विपुल ऐश्वर्य हुआ, परन्तु जब समय आया तो अपने समक्ष ही सबका नाश भी उन्होंने स्वय किया।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में हम देखते हैं कि भगवान श्री कृष्ण ने

अस्त्रधारण नहीं किए, स्वयं युद्ध नहीं किया, परन्तु अर्जुन के सारथी के रूप में लड़ाई में सलाह-मशवरा दिया। ऐसा है भगवान का स्वरूप; सबके पास अपने को छिपाकर रखते हैं, परन्तु सबका नियन्त्रण भी करते हैं; अन्तर्यामी जिस तरह सबके मन में रहकर सबका नियन्त्रण करते हैं, भगवान भी उसी तरह नियन्त्रण करते हैं। तो श्री कृष्ण के जीवन में हम विशेष रूप से देखते हैं — एक बिल्कुल असंगस्वरूप। — किसी जगह के साथ, किसी व्यक्ति के साथ या किसी परिस्थिति के साथ भी आसक्ति नहीं दीख पड़ती। हर प्रकार के अनुष्ठान के बीच वे उपस्थित हैं, परन्तु हैं निर्लिप्त। निर्लिप्तता श्री कृष्ण के जीवन की एक खास विशेषता के रूप में दिखाई देती है। कृष्णावतार में भगवान यह बताते हैं कि मानव प्रत्येक अवस्था में कैसे निर्लिप्त रह सकता है। राजा जनक के बारे में कहते हैं—**मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन** अर्थात् सारी मिथिला जल जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता। जो यदुवंश के लोग भगवान के आत्मीयजन थे, सभी का विनाश हो गया, परन्तु भगवान निश्चिन्त हैं। कुरुक्षेत्र में भगवान अर्जुन से कहते हैं कि वे निर्लिप्त होकर काम करें। यह गीता का विशेष उपदेश है। 'मैं सब कुछ करता हूँ, परन्तु कुछ भी नहीं करता हूँ' — ऐसा भाव रहे। भगवान गीता में कहते हैं— **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृत्तः** अर्थात् मैं कालरूप होकर दुनिया का नाश करूँगा। यहाँ वे श्री कृष्ण रूप नहीं है बल्कि कालरूप है; जिस रूप के साथ अर्जुन का परिचय नहीं था और जिस रूप को देखकर अर्जुन का हृदय काँपने लगा। श्री कृष्ण केवल मुरली बजानेवाले कृष्ण नहीं हैं, अपितु सर्वसंहारक भी वे ही हैं। श्री कृष्ण के जीवन में इस तरह की कई विशेषताएँ हैं।

श्री कृष्ण को एक अवतार के रूप में देखने से हमें यह मालूम पड़ता है। वे तत्त्वज्ञ है; कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन के समक्ष तत्त्व का प्रकाश करते हैं। धर्म का जो सार है, वेदों का जो तत्त्व है, वह युद्धस्थल में भगवान बताते है। युद्धक्षेत्र में भी उनके व्यक्तित्व में जरा सा भी सकुचन नहीं आता। भगवान अपने भगवत्स्वरूप में तो सब कुछ करते हैं, परन्तु मनुष्य शरीर में आकर सबके अनुकरण योग्य जीवन जीते हैं। यह अवतार की विशेषता है। भगवान अवतरित क्यों होते हैं? इसलिए कि ईश्वर को सभी समझ नहीं सकते, परन्तु अवतरित होकर मानवदेह धारण करके आने से लोगों की समझ में थोड़ा आएगा कि वे हमारे समान ही हैं, इसीलिए हम भी चाहें तो उनका थोड़ा बहुत अनुकरण कर सकते हैं।

भगवान रामचन्द्र को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। वे मानव-जीवन की पूर्णता प्रदर्शित करते हैं। वे दिखाते हैं कि आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए। रामचन्द्र जी यह दिखाते हैं कि त्याग क्या है? पिता की इच्छा पूर्ण करने के लिए, पिता के सत्य का पालन करने के लिए वे राज्य का अधिकार त्यागकर वन चले गए। फिर जब रावण ने सीता जी का हरण कर लिया तो पति के रूप में पत्नी के प्रति उनका जो कर्त्तव्य था, उसे भी पूरा करते हुए उन्होंने सीताजी का उद्धार किया। बाद में उन्हें अयोध्या की गद्दी पर बैठकर राज्य करना पड़ा तथा प्रजा के रंजन के लिए सीता जी का भी त्याग करना पड़ा। इसे भी राजा का कर्त्तव्य समझकर उन्होंने किया। उनका जीवन ऐसा ही था। हमेशा क्या करना चाहिए, किस अवस्था में कैसा आचरण होना चाहिए, इसका आदर्श रामचन्द्र जी दिखाते हैं। आदर्श

पुत्र, आदर्श पति, आदर्श राजा — ये उनके जीवन की विशेषताएँ हैं। मानव जीवन का प्रवाह कैसे चलना चाहिए, जीवन में कैसी कर्त्तव्यनिष्ठा होनी चाहिए, यही वे दिखाते हैं। अवतार विभिन्न रूप धारण करके आते हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व एक ही है। जैसा कि भगवान गीता में कहते हैं — मैंने ही पहले भी यह सब बताया था।

फिर जब हम कहते हैं कि श्रीरामकृष्णदेव भी एक अवतार हैं, तो मनुष्यों के मन में शका होती है कि श्रीरामकृष्णदेव तो अभी हाल ही के एक व्यक्ति हैं, वे अवतार कैसे हो सकते हैं? भगवान गीता में कहते हैं –

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

भगवान बारम्बार जन्म लेते हैं। यह अवतार की धारा है, प्रवाह बन्द नहीं हुआ है और होनेवाला भी नहीं है। जब तक यह सृष्टि चलती रहेगी, तब तक अवतार के आने की जरूरत होगी, क्योंकि जब-जब धर्म की ग्लानि होगी तब-तब भगवान को आना पड़ेगा। इसी कारण वे राम रूप में भी आये और इसी कारण कृष्ण रूप में भी आये। भविष्य में और भी कितने ही अवतार होंगे। भागवत में कहते हैं—'अवतारा ह्यसख्येया' — भगवान के अवतार असख्य हैं, क्योंकि काल अनन्त है और अनन्त काल में भगवान भी अनन्त प्रकार से अवतार लेते हैं। अतएव इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि श्रीरामकृष्णदेव को भी अवतार समझा जाए? श्रीरामकृष्णदेव अवतार के रूप में आकर क्या दिखाते हैं, अब यही हम सक्षेप में समझने का प्रयास करेंगे। सक्षेप में कहूँगा, विस्तार से नहीं श्रीरामकृष्णदेव तो एक ही बात

बारम्बार कहते हैं कि वे ईश्वर के सिवा अन्य कुछ नहीं जानते। उनका कहना था कि ईश्वर-प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

बचपन से ही उनके मन की गति भगवान की तरफ थी। बाद में साधना करके उन्होंने दिखाया कि किसी शास्त्र के निर्देश तथा किसी गुरु की सहायता के बिना भी, केवल मन की व्याकुलता से ईश्वर-दर्शन किया जा सकता है। उनको जब माँ काली का पहली बार दर्शन हुआ, उस समय तक उन्होंने विधिपूर्वक कोई साधना भी नही की थी, केवल अन्तर की व्याकुलता थी और व्याकुलता के कारण मन भगवान को छोडकर एक क्षण भी नहीं रह सकता था। जब मन की ऐसी स्थिति हुई तो उन्हें जगदम्बा का दर्शन मिला। परन्तु उनकी साधना यहीं समाप्त नहीं हुई। उनके मन में ऐसा विचार आया कि अलग-अलग प्रकार के जो धर्म-सम्प्रदाय हैं, ईश्वर प्राप्ति के जो अलग-अलग उपाय हैं, उन सबको जानना चाहिए। फिर उन्होंने एक-एक करके अलग-अलग प्रकार की साधना आरभ की। विधिपूर्वक विभिन्न प्रकार की साधनाएँ की। निष्णात व्यक्तियों के पास दीक्षित होकर, उनकी प्रणालियों का अनुसरण करके उन्होंने साधना की और उनमें वे सिद्ध हुए।

हर प्रकार के सिद्ध होने के बाद उन्होंने कहा, "मैंने देखा कि धर्म के अलग-अलग मार्ग हैं, एक-एक सम्प्रदाय एक-एक पथ है, परन्तु अन्त में ये सभी मार्ग एक ही सत्य की ओर ले जाते हैं। परमेश्वर मेरे लिए एक और दूसरे के लिए दूसरा, ऐसा नहीं है। जितने अलग-अलग मार्ग हैं, वे एक ही परमेश्वर के पास ले जाते हैं।" इसको अब हम सर्वधर्मसमन्वय कहते हैं। सभी धर्मों का जो अन्तिम लक्ष्य है,

वह एक ही है। यह उनका किसी शास्त्र से जाना हुआ तत्त्व नहीं है, बल्कि जीवन की अभिज्ञता से जाना हुआ तत्त्व है। इस तत्त्व का अनुभव उनको अपनी साधना के बाद हुआ और उन्होंने कहा, साधना की जितनी पद्धतियाँ हैं, वे सब ईश्वर की तरफ ले जाने में समर्थ हैं। ऐसी साधना की खास जरूरत थी क्योंकि धर्मसम्प्रदायों के अन्दर अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो गये थे, लोगों का मन अनेक प्रकार से सन्देहपरायण हो गया था और एक-दूसरे के साथ संघर्ष में लगा था। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि कोई इस तरह सर्वमतों की साधना करके बता दे कि देखो ये सब रास्ते एक ही जगह ले जाते हैं। उनके जीवन की दूसरी विशेषता है — त्याग—सर्वत्याग — किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। किसी प्रकार का दैहिक सम्पर्क उन्होंने स्वीकार नहीं किया। परन्तु ऐसा होते हुए भी सामाजिक जो कर्त्तव्य है, वह कर्त्तव्य, संन्यासी होते हुए भी उन्होंने कभी अस्वीकार नही किया। जन्मदायिनी माँ के प्रति उनके मन में बड़ा कर्त्तव्यबोध था। वृन्दावन में जब एक भक्तिमती वृद्धा संन्यासिनी गंगामाई उनके अन्दर प्रगाढ़ भगवत्प्रेम देखकर मुग्ध हो गईं और बोलीं कि तुम यहीं रह जाओ, यहाँ रहकर हम एक साथ साधना करेंगे, तो श्रीरामकृष्णदेव भी उनकी भक्ति से अभिभूत हो गये और उनके अनुरोध को स्वीकार कर लिया। परन्तु तभी याद आया कि कलकत्ते के नजदीक दक्षिणेश्वर में उनकी जननी रहती हैं और उनके प्रति भी उनका कर्त्तव्य है। बस वे गंगामाई को छोड़कर दक्षिणेश्वर आ गये। माँ के प्रति कर्त्तव्य का पालन उन्होंने अन्त तक, जब तक वे जीवित रहीं, तब तक किया। फिर अपनी पत्नी के प्रति भी उनका कर्त्तव्य था। माँ सारदादेवी के साथ

श्रीरामकृष्णदेव का साधारण पति-पत्नी जैसा सम्बन्ध नहीं था, यह तो आप सभी जानते हैं। परन्तु माँ सारदादेवी जब अपने जन्मस्थान से पति की सेवा करने के लिए दक्षिणेश्वर आ रही थीं, तो रास्ते में ही बीमार पड़ गयीं। जब वे दक्षिणेश्वर पहुँची, तो रामकृष्णदेव ने उनको अपने कमरे में रहने की जगह कर दी और उनकी सेवा वगैरह का प्रबन्ध किया। कभी यह नहीं कहा कि मैं तो संन्यासी हूँ, पत्नी के लिए यहाँ कहाँ स्थान है? परन्तु उनके साथ उनका मायिक सम्बन्ध बिल्कुल भी नहीं था। धर्मप्रचार की उनकी जो प्रवृत्ति थी उसके लिए उन्होंने माताजी को तैयार किया। उनके जीवन काल में एव उनके देहान्त के बाद भी माताजी उनके काम को चालू रखें इसके लिए उन्होंने माताजी को प्रस्तुत किया। अपनी साधना-शक्ति उनको देकर उनके अन्दर जो मातृशक्ति थी उसको जागृत किया। उनके देहान्त के बाद माताजी सघ की जननी के रूप में, जब तक उनका स्थूल शरीर था, अपना कर्त्तव्य निभाती रही। इस युग में विशेष रूप से ऐसे दृष्टान्त की आवश्यकता थी और यह दृष्टान्त दिखाकर उन्होंने अपने अवतार के रूप को सिद्ध किया। यदि हम श्रीरामकृष्ण को अवतार रूप में न भी मानें, तो जितना बन सके उतना उन्हें आदर्श स्वरूप समझना चाहिए।

पूरी तौर से हम अवतार को कभी समझ नही सकते, ईश्वर हमारी बुद्धि के जितने परे हैं अवतार भी उतने ही परे हैं। परन्तु उनका जो मनुष्य रूप है उसे समझकर हम ईश्वर के आदर्श को अपने अन्दर थोड़ा-थोड़ा ला सकते हैं। इसीलिए अवतार के रूप में ईश्वर के आने की आवश्यकता है। तो "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही इस बार रामकृष्ण

हैं''— इसका तात्पर्य हमें इस प्रकार से समझना चाहिये कि जो भगवान सर्वधर्म की सत्यता को जगत् में प्रबल करने के लिए, जगत् का अधर्म से उद्धार करने के लिए अवतार लेते हैं, जिन्होंने श्री रामचन्द्र के रूप में अवतार लिया था, श्री कृष्ण रूप में अवतार लिया था, उन्होंने ही श्रीरामकृष्ण रूप में अवतार लिया है—तात्त्विक दृष्टि से ऐसा हमें समझ लेना होगा। ब्रह्मदृष्टि से तो वे निष्क्रिय हैं। ब्रह्म जब सक्रिय होते हैं, तभी हम उनको ईश्वर कहते हैं और ईश्वर का ही अवतार होता है। श्रीरामकृष्णदेव की ही उक्ति है, ''जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही इस बार रामकृष्ण हुए हैं।'' इस प्रकार से थोड़ा प्रयास करें तो यह बात हमारी समझ में आयेगी कि उनके सन्देश की क्या सार्थकता है। उनकी कृपा होने से धीरे-धीरे हमारी बुद्धि शुद्ध होगी और जिस प्रकार जगत् का कल्याण उनके जीवन का उद्देश्य था, उनकी कृपा से वैसा ही अधिकार हमें भी थोड़ा-थोड़ा प्राप्त होगा। उनका आशीर्वाद हम सब पर हो, इसी कामना के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

जय जय रामकृष्ण भगवान

(राग— कलावती, ताल- कहरवा)

जय जय रामकृष्ण भगवान,
सारे जग में गूँज रहा तव,
पावन महिमागान ॥ जय जय.॥

इस कलियुग के कलुष मिटाने,
जड़ जग जन को राह दिखाने,
आये कृपानिधान ॥ जय जय.॥

त्याग दिखाकर धर्म सिखाकर
सबमें श्रद्धा-भक्ति जगाकर
फैलाया प्रज्ञान ॥ जय जय.॥

वचनामृत का कर आस्वादन
संशयमुक्त हुआ सबका मन,
धन्य हो गए प्राण ॥ जय जय.॥

त्रिविध ताप से दग्ध सदा हम
नाम तुम्हारा मधुर सुधा सम,
करते निशदिन पान॥ जय जय.॥

हमको यह वर दो जगदीश्वर
आत्मबोध सबकी सेवा कर
जीवन हो बलिदान॥ जय जय ॥

वर्तमान सन्दर्भ में चरित्र-निर्माण की आवश्यकता

स्वामी आत्मानन्द

हमने बचपन में पढ़ा था— Wealth is lost, nothing is lost. Helth is lost, something is lost. Charecter is lost, everything is lost. अर्थात् यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है, पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। आज हमारा चरित्र नष्ट हो गया है, इसलिए अच्छी- अच्छी योजनाओं के बावजूद हमारा राष्ट्र खड़ा नहीं हो पा रहा है। स्वार्थ का घुन हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को खोखला किए दे रहा है। आज आदमी इतना मतलबपरस्त कैसे हो गया, समझ में नहीं आता। हमारा देश तो ऐसा है, जहाँ सदैव से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर बड़ा जोर दिया जाता रहा है। इसके बावजूद हमारे चरित्र में नैतिक मूल्यों का जितना अभाव है, उतना उन पश्चिमी देशों में नहीं, जो धर्म और अध्यात्म का दिखावा नहीं करते।

इस चरित्रहीनता का कारण खोजना कठिन नहीं है— वह है व्यक्ति का स्वार्थ, उसका लोभ, जो उसके समस्त और मानवीय मूल्यों को खत्म कर देता है। चरित्र का तात्पर्य है मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, और मानवीय मूल्यों का अर्थ है एक व्यक्ति का दूसरे के प्रति सहानुभूति और सहयोगिता का भाव। स्वार्थ या लोभ की वृत्ति हमारी इस सहानुभूति और सहयोगिता की भावना का ग्रास कर लेती है। हम इस जीवन की दौड़ में दूसरों को टँगडी मारकर या धक्का देकर आगे निकल जाना चाहते हैं, पर यह भूल जाते

हैं कि दौड़ में सही अर्थों में जीत तो उसी की होती है, जो दूसरों को दौड़ने में सहायता देता है। यह पाठ हमें प्राचीन काल से पढ़ाया जाता रहा है, पर इसे हम बार-बार भूल जाते हैं, और ऐसा लगता है कि आजादी के इन छियालीस वर्षों में हम इसे एकबारगी भूल गये हैं। अन्यथा क्या कारण है कि जो लोग आजादी के पहले इतने स्वार्थत्यागी थे, अपने लड़के-बच्चों की परवाह न कर, स्वातन्त्र्य के युद्ध का बिगुल बजा बार-बार जेल की कैद काटते थे, आजादी के बाद सत्ता के प्राप्त होते ही इतने स्वार्थी और लोभी बन गए! हमारा आजादी के बाद का इतिहास हमें यही तो बताता है। ऐसे लोग इने-गिने ही होंगे, जिन्हें सत्ता के डंक से लोभ का सन्निपात नहीं चढ़ा। इन्हें हम अपवाद के रूप में छोड़ दें। शेष सभी तो सत्ता की कुरसी पर बैठते ही एकबारगी बदल गये। ज्यों-ही सत्ता हाथ में आयी और पैसे की आवक सहज हो गयी कि त्यागी को त्याग आवश्यक नहीं मालूम पड़ने लगा, उसे भोग का स्वाद लग गया। सत्ता के साथ यदि भोग का चस्का लग जाय, तो भोग की फिर कौन सी सीमा रह जाती है? उसने फिर दोनों हाथों से सपत्ति बटोरना शुरू कर दिया। धनपतियों ने यह अच्छा मौका देखा। जो लोग अँगरेज सरकार की हाँ में हाँ मिलाते थे, जिन्हें अपने ही भारतीय बन्धुओं के जेल में ठूँसे जाने से, उन पर गोली चलने से तनिक भी वेदना नहीं होती थी, ऐसे लोग धन के बल पर, देश की आजादी के बाद, सत्ताधारियों के दल में घुसने लगे। फलतः राजनीति का जो सूत्र पहले त्यागियों और सेवाभावियों के हाथ में था, वह अब धनपतियों के हाथ में आ गया और देश की योजनाएँ उनके मार्गदर्शन में बनने लगीं। वयस्क मतदानरूप प्रजातान्त्रिक राज्यप्रणाली को

अपनाने के फलस्वरूप धनपति धन के बल पर लोगों के वोट खरीदने लगे और अपनी स्वार्थ-सिद्धि का रास्ता प्रशस्त करने लगे। फल यह हुआ कि देश की संपत्ति आबादी के इन चौंतीस वर्ष में गरीबों के हाथ से निकलकर इन धनपतियों के कोषागार में ही तो अधिक गयी है। यह तथ्य कोई छिपा हुआ नहीं है, बल्कि आँकड़ों के बल पर सबके सामने खुला रखा है।

तब लोगों को ऐसा लगा कि हमारे गाँव की अशिक्षित जनता भोलीभाली है, वह अपने वोट की कीमत नहीं जानती। उसे यदि शिक्षित किया जाय, तो अपने वोट की कीमत पहचानेगी और उसे इस प्रकार बेचेगी नहीं। उन लोगों ने प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक जेफर्सन का हवाला दिया, जो कहता है कि Education Holds the key to the stability of a democratic order अर्थात् "गणतात्रिक राज्य व्यवस्था की स्थिरता की कुंजी शिक्षा के पास है"। पर वे यह भूल गये कि यदि गाँव का भोला-भाला अशिक्षित व्यक्ति अपने वोट को बेचता है, तो शिक्षित कहलाने वाले लोग भी तो अपना वोट बेचा करते हैं। अन्तर इतना ही है कि अशिक्षित व्यक्ति १०/- और शराब की एक बोतल में अपना वोट बेच देता है, जबकि शिक्षित समझा जानेवाला व्यक्ति सौदा करता है, अपने वोट की कीमत पहचानता है और इसीलिए लाखों में अपने वोट को बेचता है। इस प्रवृत्ति ने राजनीति के क्षेत्र में एक नए समुदाय को जन्म दिया, जो 'दलबदलू' के नाम से पुकारा गया। इस समुदाय ने चरित्र के समस्त आयामों को नष्ट कर दिया और देश में उस अवस्था का सूत्रपात किया, जिसे हम Crisis of character या 'चरित्र का संकट' कहकर पुकारते हैं।

आज हम इस चारित्रिक संकट के दौर से गुजर रहे हैं। इसमें मानवीय मूल्य नहीं रह जाते, आस्थाएँ एकदम समाप्त हो जाती हैं, व्यक्ति केवल स्वार्थलोलुप रह जाता है और येन-केन-प्रकारेण स्वार्थ को साधना ही अपने जीवन का मूलमंत्र मानता है। उसकी समस्त क्रियाशीलता का उत्स उसकी स्वार्थ-साधन की प्रेरणा होती है। जब हम छियालीस वर्ष पूर्व के अपने राष्ट्रीय जीवन की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो वह एक सपना सा मालूम होता है। कभी कभी मन बाध्य होकर सोचने लगता है कि क्या पहले का हमारा त्याग महज एक दिखावा था 'पर इसे मानने के लिए हमारा मानस तैयार नहीं होता, क्योंकि हममें तब सचमुच आग थी, देश की गुलामी जंजीरों की को छिन्न-भिन्न करने की तड़प थी, हममें स्वाभिमान था और हम किसी भी कीमत पर देश को आजाद करना चाहते थे। देश के स्वतंत्रता-सग्राम में कूदने वाले लोग दो प्रकार के थे— एक तो वे थे, जिनमें देश की आजादी की भावना force of motivation अर्थात्, 'प्रेरक शक्ति' के रूप में कार्य कर रही थी और दूसरे वे थे जो mob psychology यानी 'समूह की मनोवृत्ति' के वशीभूत थे। इस दूसरे तबके के लोगों में कोई आदर्शवादिता नहीं थी वे दूसरों की देखादेखी आजादी की लड़ाई में भाग लेते थे और जेल जाते थे, ताकि उन पर छीटाकशी न हो। लेकिन ज्यों-ही आजादी मिली, वह प्रेरक-शक्ति समाप्त हो गयी, जिसने लोगों में कुरबानी की आग भरी थी और इन दोनों तबकों के लोग अपने त्याग की रायल्टी भुनाने के चक्कर में लग गये। यही हमारे चारित्रिक सकट का कारण और इतिहास है। हममें देश की समृद्धि की कोई कामना नहीं रह गयी है। हमारे ओठों से बड़ी बातें तो

निकलती हैं, पर वे महज दूसरों को सुनाने के लिए होती हैं, हमारे अपने हृदय में उन बातों का कोई स्पन्दन नहीं होता। हम बड़े जोरदार शब्दों में नैतिकता और चरित्र की वकालत करते हैं, इसलिए नहीं कि हम गुणों के कायल हैं बल्कि इसलिए कि लोग हमें सच्चा और ईमानदार मानें। हममें अपने को सच्चा और ईमानदार दिखाने की व्यग्रता तो होती है, सच्चा और ईमानदार बनने की नहीं। हममें प्रवृत्ति तो झूठ काम करने की है, पर चाहते हैं कि लोग हमें सच्चा कहें।

बचपन में पढ़ी एक कहानी याद आती है। एक राजा को बड़ा घमण्ड था कि उसकी प्रजा उसे खूब चाहती है और उसकी आज्ञा का पालन करने को हरदम तत्पर रहती है। उसके गुरुजी एक सन्त थे। वे राजा के इस भ्रम को काटना चाहते थे। उन्होंने राजा से कहा कि इस बात की जाँच कर ली जाय। महात्माजी की सलाह से मैदान में एक बड़ी हौज बनायी गयी और राज्य में मुनादी पिटवा दी गई कि अमावस्या की रात को प्रत्येक परिवार से एक व्यक्ति एक सेर दूध लेकर जाय और हौज में डाल दे। राजा ने कल्पना की थी कि हौज दूध से भर जाएगा, पर सुबह देखा गया कि हौज पानी से भरी है। हर व्यक्ति ने सोचा कि सभी लोग तो दूध डालेंगे, अगर मैं अकेला पानी ले जाकर डाल दूँ, तो इतने दूध में एक लोटे पानी का कहाँ पता चलेगा। फिर, रात के अँधेरे में देखेगा भी कौन कि मैं दूध नहीं, पानी डाल रहा हूँ? और सबने यही सोचकर पानी ही डाला। क्या आज हमारी नैतिकता भी इसी प्रकार की नहीं है? क्या हम ऐसी चेष्टा नहीं करते कि हम अपना स्वार्थ येन-केन-प्रकारेण साध लें? हम यही अपेक्षा करते हैं कि

दूसरे सब लोग सच्चाई की राह चलें, इमानदार हों, और यदि हम अकेले असत्य की राह चलते हों, बेईमान बनते हों, तो हमें छूट मिलनी चाहिए। हम कैकेयी का दर्शन अपनाना चाहते हैं, जिसने अपने बेटे के लिए तो राजसत्ता का भोग माँगा और दूसरे के बेटे के लिए त्याग का बनवास। हम मुख से त्याग की प्रशंसा तो करते हैं, पर चाहते हैं कि दूसरे लोग यह त्याग अपनाएँ। हम जबान से भोग की निंदा करते हैं, पर अपने लिए भोग की छूट चाहते हैं। इससे चरित्र का निर्माण कैसे होगा? और यदि चरित्र का निर्माण नही हुआ, तो हमारा राष्ट्र उन्नत कैसे होगा?

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश अपनी बहुविध समस्याओं का समाधान करते हुए विश्व के मच पर यशस्वी बनकर उभरे, तो हमें चरित्र-निर्माण पर सबसे अधिक जोर देना पड़ेगा। उसके बिना सब थोथा है, विकास और उन्नति की सारी बात बकवास है तथा धर्म महज दिखावा और पाखण्ड है। चरित्र-निर्माण की पहली शर्त है अनुशासन। कठोर अनुशासन ही चरित्र रत्न को खरीद कर निखारता है। अनुशासन के दो पक्ष हैं — एक है भीतरी, जो हमारी इच्छा स पैदा होता है, और यही सही अनुशासन है, और दूसरा है बाहरी, जो समाज या राष्ट्र हम पर बाहर से लादता है। अनुशासन के इन दोनों पक्षों को साथ मिलाकर काम करना होगा, शास्त्र और शस्त्र दोनो को मिलकर जीवन में प्रभावी बनना होगा, तब कही चरित्र निर्माण की आशा की जा सकती है। कुछ लोग होते हैं, जो अपने संयम और ज्ञान के बल पर अपना अनुशासन करते हैं और इस प्रकार अपना चरित्रबल प्रकट करते हैं। पर बहुत से ऐसे होते हैं जिनको अनुशासन में रखने के लिए डण्डे की आवश्यकता

होती है। चरित्र-निर्माण का पाठ इन दोनों को मिलाकर पूरा होता है।

फिर यह चरित्र-निर्माण ऊपर से नीचे की ओर बहता है। ऊपर यदि सब ठीक हैं, तो नीचे के लोग भी अपने आप ठीक होने लगते हैं। समाज में आचरण-भ्रष्टता का फैलाव ऊपर के तबकों के लोगों से होता है। वहाँ सुधार की तत्क्षण और प्राथमिक आवश्यकता है। समाज के ऊपर के अगों का हम इलाज करें, तो नीचे के अंग अपने आप रोगमुक्त हो जाएँगे।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बगला पत्रों से सकलित तथा अनुदित)

—३८—

तुमने पूछा है, 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'— यह किस प्रकार का कर्म है? हम पहले ही देखते हैं कि वे कह रहे हैं—'कामिनाम्' अर्थात् जिनमें कामना हो। इसी से समझ में आ जाता है कि जिनमें कामना है, उनमे निष्काम कर्म भला कैसे होगा? उनका कर्म अवश्य ही सकाम है, परन्तु सकाम होने मात्र से ही वह दोषपूर्ण नहीं हो जाता। यदि शास्त्रविरोधी हो, अनैतिक हो तभी वह कर्म दोषपूर्ण होगा। जिनके चित्त में भोगवासना अत्यन्त प्रबल है उन्हें अपनी वासनाओं की सन्तुष्टि के लिए सकाम कर्म करना ही होगा। वे निष्काम कर्म के उपदेश की ठीक-ठीक धारणा ही नही कर सकेंगे। इसीलिए शास्त्रों में उनके लिए सकाम कर्म का विधान किया गया है। गीता में केवल निष्काम कर्म का ही उपदेश दिया गया हो ऐसी बात नही। 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'* इत्यादि के द्वारा सकाम कर्म की बात भी कही गयी है।

असल बात तो यह है कि सिर्फ उपदेश से ही काम नहीं होता। और उपदेश भी तो एक तरह का नही होता। अधिकारी-भेद के अनुसार उपदेशों में भी भेद दीख पड़ता

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

---

* कल्प के आरम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ सहित प्रजा की रचना करके उनसे कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग समृद्ध होओ और यह यज्ञ तुम्हारी अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला हो। (गीता, ३/१०)

है। जो जैसा अधिकारी है उसके मन में वैसा ही उपदेश घर करता है और वह उसका श्रद्धापूर्वक पालन कर अपना कल्याण साधन करता है। तभी तो भगवान कहते हैं—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।[१]" अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्राप्त कर्म के द्वारा अपनी प्रकृति को सत्त्वगुण सम्पन्न कर डालना होगा—यही शास्त्र का मर्म है। जिनकी प्रकृति में भोगेच्छा अत्यन्त प्रबल है, उन्हें थोड़ा भोग तो देना ही होगा। केवल उपदेश के द्वारा बलपूर्वक भोगेच्छा कदापि दूर नहीं की जा सकती। पर हाँ, भोग के साथ सदसत् विचार की भी बहुत आवश्यकता है, क्योंकि भोगों से तृप्ति नहीं होती। अग्नि में घी की आहुतियाँ देने के समान भोगतृष्णा और भी बढ़ जाती है। इसीलिये भोग के साथ विचार भी रहना चाहिए, तभी विचार की सहायता से समय आने पर चेतना आएगी, जैसा कि राजा ययाति को हुआ था। वैसे तो निष्काम कर्म करना संभव ही नहीं है। ज्ञान न होने तक कोई निष्काम नहीं हो सकता। ज्ञान होने के पूर्व तक जो निष्काम कर्म होता है वह, "अकामो विष्णुकामो वा" अर्थात् 'भगवप्राप्ति की कामना से किया गया कर्म अकाम होता है'— इस अर्थ में निष्काम कहा जाता है, जैसा कि ठाकुर कहा करते थे —भक्ति -कामना कामना नहीं है, हिंचे शाक शाक नहीं है, मिश्री की मिठाई मिठाई नहीं है, नीबू की खटाई खटाई नहीं है, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि भक्ति की कामना बन्धन का कारण नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वर के निमित्त कर्म करने पर वह निष्काम कर्म

१ अपने-अपने कर्तव्य कर्म में लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि प्राप्त कर लेता है। (गीता, १८/४५)

कहलाता है। अन्यथा निष्काम कर्म तो एकमात्र ज्ञानीजन ही कर सकते हैं, क्योंकि ज्ञान के द्वारा उनकी सारी कामनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। ज्ञानी के अतिरिक्त और किसी में भी निष्काम कर्म करने की क्षमता नहीं है। परन्तु जैसा मैंने कहा कि ज्ञानलाभ के उद्देश्य से कर्म करने पर, ज्ञानलाभ की कामना रहने पर भी उसे निष्काम कहा जा सकता है।

कर्म-विचार बड़ा ही कठिन विषय है। इसीलिये भगवान कहते हैं—"गहना कर्मणो गतिः"[१], "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"[२], इत्यादि। और यही कारण है कि हमारे ठाकुर इस पचड़े में न पड़कर कहते हैं—"माँ, यह ले अपना कर्म और यह ले अपना अकर्म, मुझे शुद्धा भक्ति दे। यह ले अपना पाप और यह ले अपना पुण्य, मुझे शुद्धा भक्ति दे", इत्यादि। इतना सहज, सर्वोपयोगी, भगवान की प्राप्ति के इतने सरल उपाय का उपदेश और किसी ने नहीं दिया। "जिस प्रकार खली मिला देने से गाय सभी तरह के चारे खा लेती है, वैसे ही भक्ति मिश्रित होने पर भगवान सभी प्रकार की कर्मोपासनाएँ स्वीकार करते हैं।" इस बात के द्वारा ठाकुर कैसा अद्‌भुत संकेत दे गये हैं। चाहे जिस उपाय से भी हो उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर, उन्हें अपना समझ लेने पर, अपने सभी कर्म उन्हीं के लिये और सभी भावनाएँ उन्हीं की ओर प्रेरित करने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। जिस प्रकार इस बात को ठाकुर कह गये हैं, उसी प्रकार गीताकार श्रीकृष्ण भी अर्जुन को

---

१ कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ है। (गीता ४/१७)

२ क्या करणीय है और क्या नहीं—इस विषय में पण्डितगण भी भ्रमित हो जाते हैं। (गीता, ४/१६)

बारम्बार यही उपदेश दे गये हैं—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥"[1]

इतना सरल और सहज उपदेश पाकर भी हम जीवन में इसका पालन नहीं कर पाते, यह निःसंदेह अत्यन्त खेद का विषय है। जिसका चित्त विषयों में लिप्त है, वह शास्त्र निर्देशानुसार सकाम कर्म और स्वधर्माचरण के द्वारा क्रमशः निष्कामता को प्राप्त कर सकेगा। इसीलिये इसे कर्मयोग कहा गया है और इसी कारण शास्त्रविधि का भी इतना सम्मान है—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥[2]

यह भगवद्वचन है। चाहे जैसे भी हो भगवान् को सब कुछ समर्पित कर डालने से, कोई भी चिन्ता अथवा भय नहीं रह जाता। इतना शास्त्र आदि के झंझट में भी नहीं

---

१. तुम जो कुछ करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ या दान करो, जो भी तप करो, हे कौन्तेय! वह सब मुझे अर्पित कर दो। इसी प्रकार तुम शुभ-अशुभ फल देने वाले कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे, और सन्यासयोग से युक्त होकर तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। (गीता ९/२७-२८)

२. जो व्यक्ति शास्त्र के उपदेशों की उपेक्षा कर यथेच्छा कर्म करता है, उसे न तो सिद्धि, न सुख और न उत्तम गति की ही उपलब्धि होती है। (गीता १६/२३)

पड़ना पड़ता। और छोटी-छोटी चीजों में गलती की आशंका भी नहीं रहती।

प्रभु हमें सद्बुद्धि दें। हम उनके द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलकर आसानी से अनन्त शान्ति के अधिकारी हो सकें। अपने सम्मुख ही निरन्तर प्रवाहित गंगा-वारि को छोड़कर हम कुँए के जल की आशा न करें। प्रभु हमारी प्रार्थना पूर्ण करें।